* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य ७ रुपये

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

उपमन्युपर भगवान् साम्ब सदाशिवकी कृपा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

वर्ष ८९

गोरखपुर, सौर भाद्रपद, वि० सं० २०७२, श्रीकृष्ण-सं० ५२४१, अगस्त २०१५ ई०

संख्या ८

पूर्ण संख्या १०६५

उपमन्युद्वारा भगवान् गौरीशंकरका स्तवन

नमो देवाधिदेवाय महादेवाय ते नमः॥

× × ×

नमस्ते भगवन् देव नमस्ते भक्तवत्सल॥
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु नमस्ते विश्वसम्भव। प्रसीद मम भक्तस्य दीनस्य कृपणस्य च॥
अनैश्वर्येण युक्तस्य गतिर्भव सनातन। यच्चापराधं कृतवानज्ञात्वा परमेश्वर॥
मद्भक्त इति देवेश तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि।

[उपमन्यु बोले—] प्रभो! आप देवताओंके भी अधिदेवता हैं। आपको नमस्कार है। आप ही महान् देवता हैं, आपको नमस्कार है। हे भगवन्! हे देव! आपको नमस्कार है। भक्तवत्सल! आपको नमस्कार है। योगेश्वर! आपको नमस्कार है। विश्वकी उत्पत्तिके कारण! आपको नमस्कार है। सनातन परमेश्वर! आप मुझ दीन-दुखी भक्तपर प्रसन्न होइये। मैं ऐश्वर्यसे रहित हूँ। आप ही मेरे आश्रयदाता हों। परमेश्वर देवेश! मैंने अनजानमें जो अपराध किये हों, वह सब यह समझकर क्षमा कीजिये कि यह मेरा अपना ही भक्त है। [महाभारत-अनुशासनपर्व]

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,१५,०००)

कल्याण, सौर भाद्रपद, वि० सं० २०७२, श्रीकृष्ण-सं० ५२४१, अगस्त २०१५ ई०

विषय-सूची

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क
अजिल्द ₹ २००
सजिल्द ₹ २२०

पंचवर्षीय शुल्क
अजिल्द ₹ १०००
सजिल्द ₹ ११००

विदेशमें Air Mail सजिल्द शुल्क } वार्षिक US$ 45 (₹2700) पंचवर्षीय US$ 225 (₹13500) {Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका, सहसम्पादक—डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : www.gitapress.org | e-mail : kalyan@gitapress.org | © (0551) 2334721

सदस्यता-शुल्क —व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।
Online सदस्यता-शुल्क -भुगतानहेतु-www.gitapress.org पर Online Magazine Subscription option को click करें।
अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क kalyan-gitapress.org पर निःशुल्क पढ़ें।

कल्याण

मन्दिरमें विराजित ठाकुरजीकी नित्य पूजा करनेवाले, अचल श्रद्धा एवं निश्चल प्रेमसे पूजाकी विविध सामग्रीको अर्पण करके श्रीरामको रिझानेवाले भक्तशिरोमणि तुलसीदासजीने पूजाका एक अत्यन्त सुन्दर क्रम बताया है। वे कहते हैं—'रे मन! समस्त दुःख-द्वन्द्वोंको नाश कर देनेवाले आनन्दमय प्रभुकी तू (जैसी आगे बतायी जाती है), ऐसी आरती (पूजा) किया कर। इन्द्रियोंके नियामक प्रभुने ऐसी आरती करनेकी शक्ति तेरी इन्द्रियोंमें दे रखी है, उनकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर तू इस प्रकारकी आरती आरम्भ कर। देख, तू धूप देना तो जानता ही है, पर आज एक नया धूप तुझे बताता हूँ। जड़-चेतन—सारा विश्व प्रभुका ही रूप है? वे सर्वत्र निरन्तर विराजमान हैं—इस वासना (सुगन्ध)-की धूप तू प्रभुको समर्पित कर। इस धूपसे प्रभुका विश्वरूप-सा मन्दिर सुवासित हो जायगा। तेरी भी 'यह अपना, यह पराया; यह अच्छा, यह बुरा'—इस प्रकारकी भेदरूप दुर्गन्ध मिट जायगी। ऐसी धूप देकर फिर स्वरूप-ज्ञानका दीपक जला दे। प्रभुके साथ सदा-सर्वदा संयुक्त रहनेकी अनुभूति कर ले। इस प्रदीपके आलोकमें तेरे ऊपर छाया हुआ क्रोध, मद, मोह आदिका अँधेरा नष्ट हो जायगा; इतना ही नहीं, इस ज्ञानके प्रकाशमें तेरे समीप रहनेवाले सपरिवार अभिमानरूप प्रबल डाकूकी शक्ति भी नष्ट हो जायगी। यही डाकू तो तेरी की हुई पूजाका फल लूट लेता है। इस ज्ञानकी ज्योतिके सामने फिर इसकी शक्ति ठहर नहीं सकती, वह क्षीण हो जायगी। अब निश्चिन्त होकर भाव (भक्ति)-का नैवेद्य अर्पण कर। तेरी प्रत्येक चेष्टा प्रभुको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे ही हो, इस निर्मल भावका ही तू भोग धर। तेरा यह सुन्दर नैवेद्य प्रभुको अत्यन्त संतोषकर होगा। यह करके फिर प्रेमका ताम्बूल सामने रख दे। तू इतना कोमल, सरस, सुगन्धित, दोषहारी बन जा कि प्रभु तुझे अपने ओठोंपर धारण कर लें। तू उनकी स्मृतिका विषय बन जा। इसका परिणाम यह होगा कि दुःख तुझे छू नहीं सकेंगे, संशय तुझे चंचल नहीं बना सकेगा। उनकी अनन्त शोभा एवं असीम सौन्दर्यके प्रवाहसे तू इतना भर जायगा कि अपार संसारकी वासनाओंके बीज फिर तुझमें ठहर नहीं सकेंगे, वे बह जायँगे। फिर तुझे यह अनुभव होगा कि अभी-अभी जो दस इन्द्रियरूपी दस बत्तियाँ अशुभ-शुभ कर्मरूपी घृतमें सनी थीं, उनका आसक्तित्यागरूप अग्निसे संयोग हो गया है, उनमेंसे सत्त्वगुणरूपी लौ निकल रही है, वह लौ भक्ति, वैराग्य, विज्ञानमें परिणत हो रही है। बस, इसी भक्ति-वैराग्य-विज्ञानरूपी दीपसे तू जगन्निवास प्रभुका नीराजन (आरती)-कर, अपने भक्ति, वैराग्य, विज्ञान—ये सब भी तू उन्हें समर्पित कर दे। रे मन! धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, नीराजनसे पूजा हो चुकी। अब तो तू अपने हृदयके मन्दिरमें शान्तिकी शय्या बिछा दे, शान्तिसे हृदयको भर ले।

इस शान्तिके पलँगपर ही प्रभु श्रीराघवेन्द्र सुखसे शयन करेंगे। देख, उनकी सेवाके लिये तू अपने हृदय-मन्दिरमें क्षमा एवं करुणा आदिके रूपमें परिचारिकाएँ भी नियुक्त कर दे। इतना करके फिर झाँककर देख। तुझे दीखेगा कि वहाँ प्रभु हैं एवं उनकी ज्योतिसे हृदय-मन्दिर चम-चम चमक रहा है! 'मैं मेरा, तू-तेरा' मायासे उत्पन्न भेदका यह अँधेरा सदाके लिये मिट गया है। मन! तू जान ले, यही वह आरती है, जिसमें महान् तत्त्वदर्शी ऋषि, मुनि, योगी, ज्ञानी, ध्यानी सदा लगे रहते हैं और प्रभुकी पूजा करते रहते हैं। ऐसी पूजा जो भी करता है, वह कामादि समस्त दोषोंसे मुक्त होकर तरण-तारण बन जाता है।

'शिव'

ईश्वर और संसार

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सज्जन निम्नलिखित प्रश्न करते हैं। (प्रश्नकर्ताके अनुरोधके अनुसार प्रश्नोंकी भाषा कुछ सुधार दी गयी है)—

(१) वेद, पुराण, शास्त्र तथा अन्यान्य मतोंके ग्रन्थोंको देखनेसे प्राय: यही पता लगता है कि कर्मके अनुसार ही जीवात्मा एक योनिसे दूसरी योनिमें जन्म लेता है, यदि ऐसा ही है तो आरम्भमें जब संसार बना और प्रकृतिके भिन्न-भिन्न साँचों (देहों)-में शुद्ध, निर्मल, कर्मशून्य आत्माका प्रवेश हुआ, उस समय आत्माको कौन-सा कर्म लागू हुआ? यदि आत्माका आना-जाना स्वाभाविक है तो भक्तिकी क्या आवश्यकता?

(२) आरम्भमें जब संसार बना और इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके साँचे (शरीर) बने तो वे कैसे बने? क्या तत्त्वोंके परस्पर संयोगसे आप-ही-आप सब कुछ बन गया? यदि ऐसा ही माना जाय तो इस समय भी प्रकृति, तत्त्व और आत्मा तो वही हैं, किंतु आप-से-आप कोई साँचा नहीं बनता। यदि यह माना जाय कि स्वयं शुद्ध-बुद्ध परमात्माने स्थूल शरीर धारणकर अपने हाथोंसे प्रत्येक साँचे (शरीर)-को गढ़ा है, तो संतोंने परमात्माको निराकार क्यों बतलाया है? स्त्री-पुरुषके संयोग बिना स्थूल शरीर बनना भी सम्भव नहीं। यदि किसी प्रकार बन भी जाय तो वह एकदेशीय व्यक्ति सर्वव्यापी नहीं हो सकता।

(३) ईश्वरने प्रकृति और संसारको बनाया, इसमें उसका क्या प्रयोजन था?

इन प्रश्नोंका उत्तर क्रमश: इस प्रकार है—

(१) गुणों और कर्मोंके अनुसार ही जीवात्मा सदासे चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेता फिरता है। मनुष्य, कीट, पतंग आदि प्रकृति-रचित योनियाँ सृष्टिके आदिमें प्रकट होती हैं और सृष्टिके अन्तमें उसी प्रकृतिमें वैसे ही लय हो जाती हैं, जैसे नाना प्रकारके आभूषण स्वर्णसे उत्पन्न होकर अन्तमें स्वर्णमें ही लय हो जाते हैं। कारण-रूप प्रकृति अनादि है। जिसको जीवात्मा या व्यष्टि-चेतन कहते हैं, उसका इस प्रकृतिके साथ अनादिकालसे सम्बन्ध चला आ रहा है। अवश्य ही यह सम्बन्ध अनादि होनेपर भी प्रयत्न करनेसे छूट सकता है। इस सम्बन्ध-विच्छेदको ही मुक्ति कहते हैं और इस मुक्तिके लिये ही भक्ति, कर्म और ज्ञानादि साधन बतलाये गये हैं।

आत्माका आना-जाना ऐसा स्वाभाविक नहीं है, जिसके रुकनेका कोई उपाय ही न हो। यदि यह कहा जाय कि 'जीवात्माका आना-जाना जब सदासे ही स्वभावसिद्ध है तो फिर वह सदा ही रहना भी चाहिये; क्योंकि जो वस्तु अनादि होती है, वह सदा ही रहती है।' परंतु यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि जीवात्माका आना-जाना अज्ञानजनक है। अज्ञान या भूल ही एक ऐसी वस्तु है, जो अनादि होनेपर भी यथार्थ ज्ञान होनेके साथ ही नष्ट हो जाती है। यह बात सभी विषयोंमें प्रसिद्ध है। एक मनुष्यको जब किसी नये विषयका ज्ञान होता है तो उस विषयमें उसका पूर्वका अज्ञान नष्ट हो जाता है, परंतु वह अज्ञान यथार्थ ज्ञान न होनेतक तो अनादि ही था, उसके आरम्भकी कोई भी तिथि नहीं थी, जब भौतिक ज्ञानसे भी भौतिक अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब परमार्थविषयक यथार्थ ज्ञान होनेपर अनादिकालसे रहनेवाले अज्ञानके नष्ट हो जानेमें आश्चर्य ही क्या है? प्रत्युत इसमें एक विशेषता है कि परमात्माके नित्य होनेसे उसका ज्ञान भी नित्य है। इसी ज्ञानके लिये भक्ति आदि साधन करने चाहिये।

(२) प्रकृतिकी शुरुआतका बनाया हुआ कोई भी संसार नहीं माना जा सकता। शुरुआत माननेसे यह सिद्ध हो जायगा कि पहले संसार नहीं था, परंतु ऐसी बात नहीं है। उत्पत्ति-विनाश-स्वरूप प्रवाहमय संसार सदासे ही

है, ऐसा माना गया है। यदि यह मान लें कि शुरू-शुरूमें तो किसी भी कालमें संसार बना ही होगा तो इससे शास्त्र-कथित संसारका अनादित्व मिथ्या हो जायगा। केवल शास्त्रोंकी ही बात नहीं, तर्कसे भी यह सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वमें यदि एक ही शुद्ध वस्तु थी, संसारका कोई बीज नहीं था तो वह किस कारणसे, कैसे और क्यों बनता? अवश्य ही यह सत्य है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अनहोनी बात भी कर सकता है, परंतु बिना ही कारण जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर भी भिन्न-भिन्न स्थितियुक्त संसारको ईश्वर क्यों रचता? यदि बिना ही कारण ईश्वरने यह भेदपूर्ण सृष्टि रची तो इससे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष आता है, जो ईश्वरमें कदापि सम्भव नहीं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर-सकाशके बिना ही केवल प्रकृतिसे ही संसारकी रचना हो गयी तो प्रथम तो प्रकृतिके जड़ होनेसे ऐसा सम्भव नहीं, दूसरे जब पहले प्रकृति शुद्ध थी तो पीछेसे किसी कालमें स्वभावसे उसमें नाना प्रकारकी विकृति, बिना ही बीज और बिना ही हेतुके कैसे उत्पन्न हो गयी? यदि प्रकृतिका स्वभाव ही ऐसा है तो वह पहले भी वैसा ही होना चाहिये और यदि पहले भी ऐसा ही था तो विकृत-प्रकृति यानी संसार अनादि ठहर ही जाता है। अतएव 'पहले प्रकृति शुद्ध थी, स्वभावसे या ईश्वरकी इच्छासे अकारण ही संसारकी उत्पत्ति हो गयी' यह बात शास्त्र और तर्कसे सिद्ध नहीं होती। इससे यही समझना चाहिये कि परमात्मा, जीव, प्रकृति और प्रकृतिका कार्य, चराचर योनियोंसहित संसारकर्म और इनका परस्पर सम्बन्ध ये अनादि हैं। इनमें प्रकृतिका कार्यरूप संसार और कर्म तो उत्पत्ति-विनाशके प्रवाहरूपमें अनादि हैं। इनका स्थायी एक-सा स्वरूप नहीं रहता। इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप संसार और कर्मको आदि-अन्तवाला, क्षणभंगुर, अनित्य और नाशवान् बतलाया है। प्रकृति और प्रकृतिका जीवके साथ सम्बन्ध अनादि हैं, परंतु सान्त हैं।

बहुत सूक्ष्म विचार और शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका मनन करनेसे प्रकृति भी अनादि और सान्त ही ठहरती है। वेदान्त-शास्त्र प्रकृतिको परमेश्वरके एक अंशमें अध्यारोपित मानता है। वेदान्तके सिद्धान्तसे ज्ञान होनेपर अनादि प्रकृतिका भी अभाव हो जाता है। सांख्य और योगशास्त्र, जो अत्यन्त तर्कयुक्त दर्शन हैं और जो प्रकृति-पुरुषको अनादि और नित्य माननेवाले हैं, प्रकृति-पुरुषके संयोगको अनादि और सान्त मानते हैं। इनके संयोगके अभावको ही दु:खोंका अभाव मानते हैं और उसीको मुक्ति कहते हैं और यह भी मानते हैं कि जो जीव मुक्त या कृतकृत्य हो जाता है, उसके लिये प्रकृतिका विनाश हो गया, प्रकृति उन्हींके लिये रहती है, जिनको ज्ञान नहीं है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

(योग सू० २।२२)

इन दर्शनोंने यह भी माना है कि प्रकृति और पुरुषकी पृथक्-पृथक् उपलब्धि संयोगके हेतुसे होती है। इस संयोगका हेतु अज्ञान है। ज्ञान होनेपर तो उस आत्माकी 'केवल' अवस्था बतलायी गयी है, यदि सबकी मुक्ति हो जाय तो इनके सिद्धान्तसे भी प्रकृतिका अभाव सम्भव है; क्योंकि मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृतिका नाश हो जाता है। अज्ञानके कारण अज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृति रहती है, परंतु अज्ञानीकी दृष्टिका कोई मूल्य नहीं। ज्ञानीकी दृष्टि ही वास्तवमें सत्य है। अतएव सबको ज्ञान हो जानेपर किसी भी दृष्टिसे प्रकृतिका रहना सिद्ध नहीं हो सकता। इन सब सूक्ष्म विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवोंके कर्म भी अज्ञानकी भाँति अनादि और सान्त ही हैं। ऐसी परम वस्तु तो एक आत्मा ही है, जो अनादि, नित्य और सत् है।

न्याय और वैशेषिकके सिद्धान्तसे अनेक पदार्थोंको सत्य माना जाता है, परंतु उनकी सत्ता और सिद्धि तो थोड़ेसे विचारसे ही उड़ जाती है—जैसे वर्षासे बालूकी भीत बह जाती है या जैसे स्वप्नमें देखे हुए अनेक पदार्थोंकी सत्ता जागनेके बाद भिन्न-भिन्न नहीं रहकर

एक द्रष्टा ही रह जाता है, ऐसे ही विचार करनेपर भिन्न-भिन्न सत्ताओंका अभाव होकर एक आत्मसत्ता ही शेष रह जाती है। दूसरी सत्ताको स्थान दिया जाय तो स्वभाव या जिसे प्रकृति कहते हैं, उसको जगह मिल जाती है, परंतु वह ज्ञान न होनेतक ही रहती है। जिसको स्वप्न आता है, उस पुरुषके और उसके स्वभावानुसार संकल्पके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीकी जो सत्ता ठहरती है, वही सत्ता इस संसारसे जागनेके बाद स्थूल आकाशादिकी ठहरती है, अतएव यह सोचना चाहिये कि स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीके परमाणुओंकी पृथक्-पृथक् सत्ता किस मूल भित्तिपर स्थित है?

यह तो सिद्ध हो गया कि साँचे या शरीर उत्पत्ति-विनाश-रूपसे अनादि हैं, अब यह प्रश्न रह जाता है कि सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम ये कैसे बने? अपने-आप बने या निराकार परमेश्वरने साकाररूपसे प्रकट होकर इनको बनाया अथवा निराकाररूपके द्वारा ही ये साकार साँचे ढल गये? यदि निराकार ईश्वर साकार बना तो वह एकदेशी होनेपर सर्वव्यापी कैसे रहा?

—यह प्रश्न ऐसा नहीं है, जिसपर बहुत सोचनेकी आवश्यकता हो। शान्तिपूर्वक विचार करनेपर इसका समाधान तो अनायास ही हो सकता है। महाप्रलयके आदिमें परमेश्वररूप पिता और प्रकृतिरूप माताके संयोगसे सब जीवोंके गुण-कर्मानुसार शरीर उत्पन्न होते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(१४।३-४)

'हे अर्जुन! मेरी महद्ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है, अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ, इस जड़-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है तथा हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

यदि यह पूछा जाय कि दोनों पदार्थ आरम्भमें निराकार थे फिर इन दोनोंके सम्बन्धसे स्थूल देहोंकी उत्पत्ति कैसे हो गयी? इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें निराकाररूपसे जल स्थित है, वही अव्यक्त सूक्ष्म जल वायुके संघर्षणसे धूमरूपको प्राप्त हो फिर बादलके रूपमें परिणत होकर स्पष्ट-रूपसे व्यक्त द्रव-जलके रूपमें होकर अन्तमें बर्फका पिण्ड बन जाता है, वैसे ही इस सृष्टिके आदिमें प्रकृतिमें लयरूपसे स्थित जीवसमूह भी परमेश्वरके संघर्षणसे बर्फ-पिण्डकी भाँति मूर्तरूपमें प्रकट हो जाते हैं। यह तो मानना ही होगा कि आकाशमें बर्फके पिण्ड स्थित नहीं हैं, होते तो वहाँ ठहर ही नहीं सकते। आकाशकी निराकारता भी स्पष्ट देखनेमें आती है, पर देखते-ही-देखते निर्मल आकाशमें मेघोंकी उत्पत्ति हो जाती है। विज्ञान और विचारसे यह सिद्ध है कि सूर्यकी किरणोंमें स्थित निराकार परमाणुरूप जल ही मेघ और स्थूलजलके रूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार आकाशमें निराकाररूपसे रहनेवाली अग्नि कभी-कभी बादलोंके अन्दर बिजलीके रूपमें चमकती हुई दीखती है। कभी कहीं गिरती है तो उस स्थानको जलाकर तहस-नहस कर डालती है। जब अग्नि और जल आदि स्थूल पदार्थ भी निराकारसे साकार बन जाते हैं, तब निराकार ईश्वर और प्रकृतिके संयोगसे साकार वस्तुका उत्पन्न हो जाना कौन बड़ी बात है?

यह भी समझनेकी बात है कि जो साकार वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह लय भी उसीमें होती है।

वायुके द्वारा निर्मल निराकार आकाशमें बिजली उत्पन्न होती है और फिर उसी आकाशमें शान्त हो जाती है। तेजके संघर्षणसे जलकी उत्पत्ति होती है, शीतसे उसका पिण्ड बन जाता है। फिर वही जल तेजसे तपाये जानेपर द्रव होकर भापके रूपमें परिणत होता हुआ अन्तमें आकाशमें जाकर रम जाता है। इसी प्रकार जीवोंके शरीर भी सृष्टिके आदिमें गुण-कर्मानुसार प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। यह आदि-अन्तका प्रवाह अनादि है।

प्रकृतिका रूप किसी समय सक्रिय होता है और किसी समय अक्रिय, यह उसका स्वभाव है। जिस समय सत्, रज, तम तीनों गुण साम्यावस्थामें स्थित रहते हैं, तब यह गुणमयी प्रकृति अक्रियरूपमें रहती है और जब तीनों गुण विषमावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं, तब प्रकृतिका रूप सक्रिय बन जाता है। सक्रिय प्रकृति ईश्वरके सम्बन्धसे गर्भस्थ जीवोंको मूर्तरूपमें प्रकट करती है। भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित समस्त जगत्‌को रचती है और इसी उपर्युक्त हेतुसे यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

परमेश्वर निराकार रहते हुए भी साकाररूप धारणकर किस प्रकार सर्वव्यापी रहता है, इस बातको समझनेके लिये अग्निका उदाहरण सामने रखना चाहिये। एक निराकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, वही हमारे शरीरके अन्दर भी है, जो खाये हुए अन्नको पचा देती है। अग्नि न हो तो अन्न पचे नहीं और यदि वह व्यक्त हो तो शरीरको भस्म कर दे। इससे सिद्ध होता है कि हमारे अन्दर अव्यक्त अग्नि है। यही सर्वत्र व्याप्त निराकार अव्यक्त अग्नि ईंधन और संघर्षणसे साकार बन जाती है। जिस समय अग्निका साकाररूप नहीं होता, उस समय भी वह काठ आदिमें निराकाररूपसे रहती है। न रहती तो संघर्षणसे प्रकट कैसे होती? फिर वही अग्नि जब शान्त कर दी जाती है, तब फिर निराकाररूपमें परिणत हो जाती है। जिस समय वह ज्वालाके रूपमें एक स्थानमें प्रकट होती है, उस समय कोई भी यह नहीं कह सकता कि जब अग्नि यहाँ प्रकट हो गयी तो अन्यान्य स्थानोंमें नहीं है। यह निश्चित बात है कि एक या अनेक जगह एक ही साथ प्रकट होनेपर भी निराकार अग्नि व्यापकरूपसे सभी जगह वर्तमान रहती है। इसी प्रकार परमात्मा भी मायाके सम्बन्धसे एक या अनेक जगह साकाररूपसे प्रकट होकर भी उसी कालमें निराकार व्यापकरूपसे सर्वव्यापी रहता है। उसकी सर्वव्यापकता और पूर्णतामें कभी कोई कमी नहीं हो सकती। अग्निका उदाहरण भी केवल समझानेके लिये ही दिया गया है। वास्तवमें परमात्माकी सर्वव्यापकताके साथ अग्निकी सर्वव्यापकताकी तुलना नहीं हो सकती!

(३) प्रकृतिको ईश्वरने नहीं बनाया, प्रकृति तो उसी वस्तुका नाम है जो सदासे स्वाभाविक ही हो। अवश्य ही चराचर-जगत्‌को भगवान्‌ने बनाया है। इसमें उन न्यायकारी, सर्वव्यापी, दयामय परमात्माकी अहैतुकी दया ही समझनी चाहिये। जिन जीवोंके पूर्वमें जैसे गुण और कर्म थे, उन सब चराचर जीवोंको भगवान् उन्हींके गुण-कर्मानुसार देहसहित उत्पन्न करते हैं। स्वार्थ, आसक्ति और हेतुरहित न्यायकर्ता होनेके कारण जीवोंके गुण-कर्मानुसार रचयिता होनेपर भी भगवान् अकर्ता ही माने जाते हैं, परंतु जीवोंका दुःख दूर करनेको वे अपनी मर्यादाके अनुसार सदा-सर्वदा उनके लिये दयायुक्त विधान ही किया करते हैं। यहाँतक कि समय-समयपर अपनी प्रकृतिको वशमें करके सगुण साकार-रूपमें प्रकट होकर जीवोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं। ऐसे अहैतुक दयालु और परम सुहृद् परमात्माका भजन करना ही जीवमात्रका कर्तव्य है।

व्रजमें

(कुँवर श्रीव्रजेन्द्रसिंहजी 'साहित्यालंकार')

'व्रज'—कितना मीठा शब्द है! सुधाके अपार समुद्रसे माधुर्यकी निर्मल निर्झरिणीका कैसा अद्भुत संगम है—जादूसे भरा, बड़ा ही आकर्षक! मानो वंशीकी विमोहिनीमें मिलकर पिकबयनी गोपियोंकी तीखी स्वरलहरी बिखरी जा रही है। अगणित तरंगमालाओंके संघर्षसे चूड़ियोंकी खनक, किंकिणी और नूपुरोंकी झंकार फूटी पड़ती है। कल्लोलिनीकी कलकलमें मधुसूदनका मधुर जीवन खिलखिला उठता है। केवल दो ही अक्षरोंके गर्भमें सारे संसारका सार छिपा है—लालका शैशव, विहारीका विहार, लीलामयकी लीलाएँ, रसिक रँगीलेका रास-रंग!

'व्रज'—कह देनेसे सगुण ब्रह्मका पाँच हजार वर्ष पुराना चित्र आँखोंके आगे जगमगाने लगता है। वंशीवटकी अपूर्व छटा, गोकुल, नन्दगाँव और बरसानेकी विचित्र बहार इसीमें केन्द्रीभूत समझिये। गहवर-वनके सघन कुंज, विविध लतावितान, कदम्ब और तमालोंकी स्वच्छ छबि, वन-उपवनोंके मनोरम दृश्य, हरी-हरी झाड़ियोंमें मधुपोंकी गुंजार, कोकिलाओंकी कुहू-कुहू, मयूरोंका स्वच्छन्द विहरण, यमुनाका सुरम्य तट, सुन्दर पुलिन, कूल-कछारोंके चित्ताकर्षक नजारे, प्रकृति-नटीकी अनूठी कारीगरी और जीवनका सच्चा आनन्द इसी नन्हे-से शब्दमें अन्तर्हित है।

'व्रज'—यह कोलाहलसे दूर, विविध झंझटोंसे परे, संसारसे सर्वथा प्रभिन्न, भगवान् श्रीकृष्णकी क्रीड़ा-स्थली एवं पतितपावनी पुण्यभूमि है। यहाँ सर्वत्र शान्तिका अटल साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है। पत्ते-पत्तेसे विमल प्रेमका स्रोत, भक्तिका रँगीला रस चुआ पड़ता है। कण-कणमें राधा-माधवकी गुणगरिमा परिव्याप्त है। केलि-कुटीरोंकी ओर पद-पदपर तीर्थराजका सारा माहात्म्य बिखरा फिरता है—

यहिं ब्रज केलि-निकुंज-मग, पग-पग होत प्रयाग।

—बिहारी

तनिक-सी रज पड़नेसे अनेक जन्मोंके महापाप सहज ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। यह पवित्र रज मानो मुक्तिको भी मुक्त करनेवाली है—

ब्रजरज उड़ि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय।

—नागरीदास

कितने ही मनचले भक्त दिन-रात इस रजत-रजमें लोटते रहते हैं। जब देखो, उनके अन्तरात्मासे यही हूक उठती है—

मिलिहैं अँग-अँग छार ह्वै, कब बनबीथिनि धूरि।
परिहैं पदपंकज बिमल, मेरी जीवनमूरि॥

—ललितकिशोरी

अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी वास्तवमें यहाँ कुछ भी पूछ नहीं है। बने हुए बक्की-झक्की ब्रह्मज्ञानियोंकी भी पूरी दुर्गति समझिये। उनके रूखे-सूखे शब्दज्ञानकी जरा भी कद्र नहीं। बेचारोंको उलटी बेगारें ढोनी पड़ती हैं—

चारि पदारथ करत मजूरी, मुक्ति भरै जहँ पानी।
करम, धरम दोउ बटत जेंवरी, घर छावैं ब्रह्मग्यानी॥

जो कोरा ज्ञान बघारनेकी नीयतसे आया, उसकी यही दुर्दशा हुई। उद्धवने भी योगसाधनके प्रति ज्ञानोपदेश देनेका प्रयत्न किया, पर मुँहकी खायी। सबक देने आये थे, सबक लेकर लौटे—

त्यागको जोग जहान कहै,
हम तौ तब ही चुकीं त्यागि जहानैं।
मौत कलेसकौ लेस नहीं,
कवि 'बोधा' गुपालमें चित्त समानैं॥
खैंचतीं पौनकौं मौन गहैं,
अरु नींद अहार नहीं उर आनैं।
ऊधौ जू! जोगकी रीति कहौ,
हम जोग ना दूजो बियोगतें जानैं॥

माधुर्य तो मानो यहाँ प्रत्यक्ष होकर विहार करता है। सर्वत्र इसीका आधिपत्य है—बोलबाला है। ईश्वरके

अटपटे नाम भी इसकी चाशनीमें पगे बिना न रह सके—

व्रज-सम और कोउ नहिं धाम।
या व्रजमें परमेसुरहूके सुधरे सुंदर नाम॥
कृष्ण नाँव यह सुन्यो गर्गतें, कान्ह-कान्ह कहि बोलैं।
बालकेलि रस मगन भये सब, आनँदसिंधु कलोलैं॥

—नागरीदास

यहाँकी व्रजभाषा कड़वी और कुढंगी देववाणीसे अत्यधिक मीठी एवं मर्मस्पर्शी है। कटुता या कर्कशताका तो कोई नाम भी नहीं जानता। जिधर जाइये माधुर्य, जहाँ देखिये माधुर्य—चारों ओर मिठास-ही-मिठास! आह! जिसने यह सरस रसपान नहीं किया, प्रेमासवका यह छलकता प्याला होठोंपर न रखा, वह सचमुच ही 'रस'से सदैव दूर रहा। उसके जीवनकी उपमा यदि रेगिस्तानी ऊँटके जीवनसे दे दी जाय तो कदापि अत्युक्ति नहीं। यदि हमारे सामने यह व्रज और 'व्रजमाधुरी' न होती तो हिन्दी-संसार आज एकदम मरुभूमि था। कवियोंकी फुलवारीमें न ऋतुराज आता, न पराग उड़ता, न मकरन्द लुटता!

जिसकी खोजमें सारा ब्रह्माण्ड पागल हो रहा है, वही लाड़िला नँदलाल यहाँ सघन वनकी प्राकृतिक पर्णशालाओंमें राधिकाके पैरोंतले पड़ा इसी अलौकिक रसकी भीख माँगता फिरता है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन, बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितै, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यौ, रसखानि, बतायो न लोग-लुगायन।
देखौ, दुर्‌यौ वह कुंज-कुटीरमें बैठ्यौ पलोटत राधिका-पायन॥

—रसखानि

भला, इस विलक्षण रसके आगे ऋषि-मुनियोंकी तपश्चर्याका खयाल किसे रह सकता है—

मनु मार्‌यौ केते मुनिन, मनु न मनायौ आय।
ता मोहनपै राधिका मान गहावति पाय॥

—बिहारी

रसके इस लबालब सागरतक भला किसी भी विद्याकी पहुँच कहाँ? प्रेमकी सुनहरी चर्चामें विरस-वादकी क्या बूझ—कोरे दार्शनिक प्रलापकी जिक्र ही क्या? वहाँ तो इसी रसकी प्यास है। चाहे गोरसके बहाने मिले अथवा माखनके, पर चाहिये स्वातिकी वही बूँद—घूँट-पर-घूँट, पैमाने-पर-पैमाना—

छीर जो चाहत चीर गहे,
अजु लेहु न, केतिक छीर अचैहौ।
चाखनके हित माखन माँगत,
खाहु न, केतिक माखन खैहौ॥
जानति हौं जियकी 'रसखानि',
सु काहेकों एतिक बात बढ़ैहौ।
गोरसके मिस जो रस चाहत,
सो रस कान्ह नैक नहिं पैहौ॥

वाह! इस इनकारमें भी मजा है। भिखारीको जब भीख नहीं मिलती, तब धनीके दरवाजेपर धरना देकर मिन्नतें करता है, प्रेमकी मीठी हुकूमत सहता है—पैरोंमें महावर लगाओ, बालोंमें फूल गूँथो—

बेद भेद जानैं नहीं, नेति-नेति कहि बैन।
ता मोहनसों राधिका, कहै महाबरु दैन॥
जग्य न पायौ ब्रह्महूँ, जोग न पायौ ईस।
ता मोहनपै राधिका सुमन गुहावति सीस॥

—बिहारी

कभी फटकार भी साबुत पड़ती है—

रहौ, गुही बेनी, लख्यौ गुहिबेकौ त्यौनार।
लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाए बार॥

—बिहारी

प्रेमकी झिड़कियाँ भी मीठी होती हैं—मार भी मीठी लगती है। शेष, महेश, गणेश, सुरेश इस मजेको क्या जानें—सुस्वादु रसका यह जायका उनके भाग्यमें कहाँ? वे जिस परब्रह्मकी अपार महिमाका पार पानेके लिये दिन-रात नाक रगड़ते हैं, वही सलोना श्यामसुन्दर व्रजमण्डलके प्रेमसाम्राज्यमें छाछकी ओटसे इसी रसके पीछे अहीरकी छोकरियोंके इशारोंपर तरह-तरहके नाच नाचता फिरता है—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस,
सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड,
अछेद, अभेद, सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं,
पचिहारे, तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ
छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं॥

—रसखानि

जब रसके चसकोंसे फुरसत ही नहीं, तब भला ज्ञानी-ध्यानियोंकी बातें कौन सुने? त्यागने दो चीख-चीखकर प्राण! बहुत होगा, मुक्ति दे दी जायगी; पर अपने लाल तो उजड़े हृदयमें जानेके नहीं। वेद-पुराण, देवी-देवता, रागी-विरागी चाहे भले ही कुछ मर्म न समझें, किंतु इधर तो मधुर रसवर्णनके सम्पर्कमें लेखनीतक ईखकी हुई जा रही है—शहदकी फीकी तुलनाको कौन पूछे—

बधू-अधरकी मधुरता बरनत मधु न तुलाइ।
लिखत-लिखत ही हाथकी किलिक ऊख ह्वै जाइ॥

—बिहारी

भला, इस मिठासका क्या पार? निर्गुण, निराकार, अनन्त, अगोचर, अव्यक्तकी टोहमें रहनेवालोंको यह मजा कहाँ? इस व्रजवासन्तीका रसास्वादन तो वे ही रसिक भ्रमर कर सकते हैं, जिनके हृदयमें अपने मुरलीवाले, कुंजविहारी, बनवारी, पीतपटधारी, रँगीले, छबीले, बाँके व्रजलालके प्रति अटल प्रेम तथा दृढ़ भक्ति है—*'दरस परस मज्जन अरु पाना'* की सच्ची लगन एवं अमर आशा है। व्रजवाटिकाकी वसन्ती छटामें सदा सौरभपान करनेका तो उन्हें ही अधिकार है। नवमुकुलित मल्लिकाओंका मकरन्द लूटते हुए फिर वे परमानन्दमें तन्मय हो सहज ही पुकार उठते हैं—

या लकुटी अरु कामरियापर
राज तिहूँ पुरकौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधिकौ सुख
नंदकी गाइ चराइ बिसारौं॥
'रसखानि' कबों इन आँखिनसों
ब्रजके बन-बाग, तड़ाग निहारौं।
कोटिक हों कलधौतके धाम
करीलकी कुञ्जन ऊपर बारौं॥

तन्मयता और भी आगे बढ़ती है—

कदमकुंज ह्वैहौं कबै श्रीबृंदाबन माहिं।
ललितकिसोरी लाड़िले बिहरैंगे तिहिं छाहिं॥
कब कालिंदीकूलकी ह्वैहौं तरुवर-डार।
ललितकिसोरी लाड़िलै झूलैं झूला पार॥
कब हौं सेवाकुंजमें ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लड़ैतीलाल॥
कब कालीदहकूलकी ह्वैहौं त्रिबिध समीर।
जुगुल अंग-अँग लागिहै, उड़िहैं नूतन चीर॥
कब गहवर-बन-गलिनमें फिरिहौं होइ चकोर।
जुगल-चंद-मुख निरखिहौं नागरि-नवलकिसोर॥

—ललितकिशोरी

वाह! वाह! आशा हो तो ऐसी ही—

मानुष हौं तो वही रसखानि
बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो,
चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिकौ,
जो धर्यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तौ बसेरौ करौं मिलि,
कालिंदी-कूल-कदम्बकी डारन॥

इससे अधिक मीठी और क्या मनोवांछा होगी—

जमुना-पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै, मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बनबीथिनि डोलौं, बचे सीथ संतनके पाऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम,
ब्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

अन्तिम समय यदि ये आँखें खुलें भी, तो उसी

प्यारेके मोरमुकुटपर, अन्यथा नहीं—

कदमकी छाँह हो, यमुनाका तट हो;
अधर मुरली हो, माथेपर मुकट हो।
खड़े हों आप, इक बाँकी अदासे;
मुकट झोकेमें हो, मौजे हवासे।
गिरै गरदन, ढुलक कर, पीतपट पर;
खुली रह जायें आँखें ये मुकटपर॥

कितनी अनोखी अन्तराकांक्षा है! तन्मयताकी इस अन्तिम सीढ़ीपर पहुँचकर और कुछ देखनेकी गुंजायश नहीं। वहाँ तो सारी दुनिया ही प्रियतममय हो सामने आती है। कान सदा उसीका प्रेमालाप सुनते हैं, आँखें उसीके प्रेमकी सीन-सीनरी देखती हैं—हृदयमें उसीकी मंजुल मूर्त्ति मुसकराती रहती है—

हौं ही ब्रज, बृंदाबन मोहीमें बसत सदा,
जमुना-तरंग स्याम रंग अवलीनकी।
चहुँओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनमें सुनियत गुंजन अलीनकी॥
बंसीबट नट-नागर नटतु मो में सदा,
रासके बिलासकी मधुर धुनि बीनकी।
भरि रही भनक-बनक ताल-ताननिकी,
तनक-तनक तामें झनक चूरीनकी॥

बस, यही तन्मयताकी सुन्दर स्थिति है, तुलसीदासजी भी इसकी सम्पुष्टि करते हैं—

जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।

अब कहिये, कहाँ यह सरस प्रेम और कहाँ वह विरस विवाद! कहाँ मणि और कहाँ काच—कितना अन्तर है! रँगरलियोंके इस सब्जबागको छोड़कर ज्ञानके बियाबानमें जाना कितना दुस्तर है! देखिये, स्वयं भगवान् ही उद्धवसे कहते हैं—

ऊधौ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
बृंदाबन-गोकुल-सुधि आवति, सघन तृननिकी छाँहीं॥

उफ्! अधीर हो उठते हैं—

सुन ऊधौ! मोहि नैक न बिसरत वे ब्रजबासी लोग।
हम उनकों कछु भली न कीनी, निस-दिन दियौ बियोग॥
जदपि यहाँ बसुदेव-देवकी, सकल राजसुख-भोग।
तद्यपि मनहिं बसत बंसीबट, ब्रज जमुना-संयोग॥
वे उत रहत प्रेम-अवलंबन, इतते पठयो जोग।
'सूर' उसाँस छाँड़ि, भरि लोचन, बढ़ो बिरह-जुर-सोग॥

विस्मृतिकी राखमें दबी हुई स्मृतिकी चिनगारियाँ फिर भड़क उठती हैं—

ग्वालनके संग जैबौ, ऐबौ औ चरैबौ गाय,
हेरि तान गैबौ, सोचि नैन फरकत हैं।
झाँके गजमोति-माल, वारौं गुंजमालन पै,
कुंज-सुधि आवै, हाय! प्रान धरकत हैं॥
गोबरकौ गारौ लगै सु तौ मोहि प्यारौ,
नाहिं भावैं महल, जे जटिल मरकत हैं।
मंदर ते ऊँचे, कहा मंदिर हैं द्वारिकाके,
ब्रजके खरिक मेरे हिये खरकत हैं॥

इस महिमामयी ब्रजकी अकथ कथा कहाँतक कही जाय। इसके आगे तो स्वर्गका सम्पूर्ण वैभव भी तुच्छातितुच्छ है—

ब्रजसुख छायौ, चलि 'नागर' लुभायौ मन,
हमकों न भायौ यहाँ बैकुंठकौ आइबौ।

औरकी क्या कहें, सुखस्निग्ध रसकी टटोलमें योगीन्द्र शिवको भी यहाँ गोपी बनना पड़ा—

'नारायन' ब्रजभूमिकौं को न नवावै माथ।
जहाँ आप गोपी भए श्रीगोपेस्वर नाथ॥

भला, ऐसे गौरवशाली ब्रजको मस्तक झुकानेमें आनाकानी करनेकी किसे सामर्थ्य—कीजिये एक बार नमस्कार इस व्रजको और व्रजलालको, गोपियोंको और गोपीश्वरी राधाको!

पाँच हजार वर्ष पुराना अतीतकालका यह चित्र आज भी आँखोंके सामने मानो ज्यों-का-त्यों सजीव है। तनिक स्मरणमात्रसे हृदय मचल जाता है—बरबस ही अन्तस्तलसे एक हूक उठती है—

गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै, महाराज!
तृन कीजै रावरे ही ब्रजके डगरकौ।

......................बस!

प्रतिशोधकी भावनाका त्याग करके प्रेम कीजिये

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

प्रह्लादको मारनेके लिये हिरण्यकशिपुके हितैषी षण्डामर्क नामक पापी पुरोहितोंने अग्निशिखाके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया। उसने प्रह्लादको मारना चाहा, पर भगवान्‌की कृपासे वह प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं कर सकी और लौटकर उसने उन दोनों पुरोहितोंको समाप्त कर दिया एवं स्वयं भी नष्ट हो गयी। गुरुपुत्रोंको जलते देखकर प्रह्लादसे नहीं रहा गया। वे 'हे श्रीकृष्ण! हे अनन्त! बचाओ, बचाओ' कहते हुए दौड़े। गुरुपुत्र तो दोनों मर चुके थे। प्रह्लादको इससे बड़ा दुःख हुआ। उनके मनमें कोई शत्रु था ही नहीं, वे सबमें भगवान्‌को व्याप्त देखते थे। वे भगवान्‌से उनको पुनर्जीवित करनेके लिये प्रार्थना करते हुए बोले—'यदि मैं मुझसे शत्रुता रखनेवालोंमें भी सर्वव्यापी भगवान्‌को देखता हूँ, जिन लोगोंने मुझे विष देकर, आगमें जलाकर, हाथियोंसे कुचलवाकर और साँपोंसे डँसवाकर मारनेका प्रयत्न किया, उनके प्रति भी मेरी समानरूपसे मैत्री-भावना रही हो और उनमें मेरी पाप-बुद्धि न हुई हो तो उस सत्यके प्रभावसे ये दोनों दैत्य-पुरोहित जीवित हो जायँ*।'

यों कहकर प्रह्लादने उनका स्पर्श किया और वे दोनों ब्राह्मण स्वस्थ होकर उठ बैठे तथा प्रह्लादके प्रतिशोध-भावसे रहित पवित्र आत्मभावकी मुक्तकण्ठसे कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे प्रशंसा करने लगे।

प्रह्लादने महान् दुःख देनेवाले पिता हिरण्यकशिपुकी सद्गतिके लिये सर्वदा निष्काम होनेपर भी भगवान्‌से वरदान माँगा।

इसी प्रकार एक बार महर्षि दुर्वासाने क्रोधोन्मत्त होकर तपोबलसे कृत्याके द्वारा भक्तवर अम्बरीषको मारना चाहा। भगवान्‌के सुदर्शनचक्रसे सुरक्षित अम्बरीषको कृत्या नहीं मार सकी, सुदर्शनने कृत्याको ही जलाकर राखका ढेर कर दिया। तदनन्तर भीषण चक्र दुर्वासाकी ओर चला, दुर्वासा डरकर भागे। तपोबलसे वे समस्त ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें जानेकी शक्ति रखते थे। वे दिशा, आकाश, पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग, ब्रह्मलोक तथा कैलास—सभी जगह दौड़े गये, पर भगवद्भक्तके विरोधी होनेके कारण कहीं भी उनको आश्रय नहीं मिला। अन्तमें चक्रकी आगसे जलते हुए मुनि दुर्वासा वैकुण्ठमें पहुँचे और काँपते हुए वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌से रक्षा करनेकी प्रार्थना की, परंतु वहाँ भी रक्षा नहीं हुई। भगवान्‌ने कह दिया—'निरपराध साधु-पुरुषोंका बुरा चाहनेवाले तथा करनेवालेका अमंगल ही हुआ करता है। मेरे भक्त सबको त्यागकर मुक्तिको भी स्वीकार न करके मेरी शरणमें रहते हैं, वे केवल मुझको ही जानते हैं। ऋषिवर! मैं उनके अधीन हूँ। उन्होंने मुझको वैसे ही अपने वशमें कर रखा है, जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है। आपको बचना हो तो आप उन्हीं अम्बरीषकी शरणमें जाइये।'

दुर्वासा वैकुण्ठसे लौटकर अम्बरीषके चरणोंपर आ गिरे। अम्बरीष बड़े दुखी थे। दुर्वासाजी भागे थे, तबसे अम्बरीषने भोजन नहीं किया था। आज दुर्वासाको अपने चरण पकड़े देखकर वे बहुत ही सकुचा गये और बड़ी अनुनय-विनय करके चक्रसे बोले—'यदि मैंने कभी कोई दान, यज्ञ या धर्मका पालन किया हो और हमारे वंशके लोग ब्राह्मणोंको अपना आराध्य मानते रहे हों एवं यदि समस्त गुणोंके एकमात्र परमाश्रय भगवान्‌को मैंने समस्त प्राणियोंमें आत्माके रूपमें देखा हो तथा वे मुझपर प्रसन्न हों तो दुर्वासाजीकी रक्षा हो, इनका सारा संताप

---

* यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्। चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः। यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्वैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्। यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥ (श्रीविष्णुपुराण १। १८। ४१-४३)

तुरंत मिट जाय*।'

अम्बरीषकी प्रार्थनासे चक्रदेव शान्त हो गये। दुर्वासाकी सारी जलन मिट गयी। तब वे प्रतिशोधकी भावनासे सर्वथा रहित तथा मारनेका पूर्ण प्रयत्न करनेवालेका मंगल चाहनेवाले अम्बरीषके सम्बन्धमें कहने लगे—'आज मैंने भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका महत्त्व देखा। आप इतना भयानक अपराध करनेवालेका भी मंगल कर रहे हैं। महाराज! आप सच्चे भगवद्भक्त हैं। आपका हृदय करुणासे परिपूर्ण है। आपने मुझपर बड़ा ही अनुग्रह किया। मेरे सारे अपराधोंको भुलाकर मेरे प्राण बचाये। धन्य हैं।'

अम्बरीषने बड़े आदरसे उनका स्वागत-सत्कार करके उन्हें भोजन करवाकर तृप्त किया।

इसी प्रकार महात्मा ईसाने क्रूसविद्ध करनेवालोंके लिये और भक्तराज हरिदासने मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की।

परदोष-दर्शन, घृणा, द्वेष, प्रतिशोध (बदला लेने)-की भावना, वैर और हिंसावृत्ति—ये जितना हमें नरकोंमें ढकेलते हैं, हमारा सीमारहित बुरा करते हैं, उतना कोई भी दूसरा व्यक्ति हमारा बुरा नहीं कर सकता। इतिहासमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता, जहाँ परदोष-दर्शन, घृणा, द्वेष तथा प्रतिशोधके द्वारा किसी भी सत्कार्यकी सिद्धि हुई हो। ये विचार या भाव मानव-जीवनके शान्ति तथा आनन्दको नष्ट कर देते हैं, इनसे बुद्धि मारी जाती है, विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है, विचारका सन्तुलन मिट जाता है और मनुष्य अपना हित सोचनेमें सर्वथा असमर्थ होकर अपने ही हाथों अपने लिये कब्र खोदनेमें लग जाता है। इन दोषपूर्ण विचारोंसे जिसके प्रति ये विचार आते हैं, उसकी तो हानि होती है, उससे भी अधिक विनाशात्मक हानि उसकी होती है, जिसके हृदयमें इस प्रकारके दुर्विचार तथा दुर्भाव स्थान पाते हैं। यह वस्तुतः शारीरिक आत्महत्यासे भी बढ़कर हानिकर पाप है; क्योंकि इससे आध्यात्मिक आत्महत्या होती है।

असली बात तो यह है कि मनुष्यका कोई शत्रु है ही नहीं। जिसने मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, वह स्वयं ही अपना मित्र है तथा जिसके द्वारा मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं की जा सकी है एवं जो उनका गुलाम है, वह आप ही अपना शत्रु है।

संसारमें जो कुछ भी हमें फलरूपमें प्राप्त होता है, वह निश्चय ही हमारे द्वारा किये हुए अपने ही कर्मोंका फल है। बिना अपने प्रारब्ध-दोषके हमारा बुरा कोई कर ही नहीं सकता। हम कहीं किसीको हमारा अनिष्ट करते देखते हैं या मानते हैं तो यह हमारी भूल है। वह हमारे अनिष्ट करनेमें निमित्त बनकर या हमारे अनिष्टकी इच्छा करके अपने लिये अनिष्ट फलका बीज अवश्य बो देता है, पर हमारा अनिष्ट तो हमारे कर्मफलस्वरूप ही होता है। कर्मफलमें हमारा बुरा नहीं होना है तो कोई भी, किसी भी प्रयत्नसे हमारा बुरा नहीं कर सकता। इसलिये यदि कोई हमारा बुरा करना चाहता है तो वह वस्तुतः अपना ही बुरा करता है और अपने-आप अपना अनिष्ट करनेवाला मूर्ख या पागल मनुष्य दयाका पात्र होता है—घृणा, द्वेषका नहीं। इसीलिये—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

(रा०च०मा० ५।४१।७)

—कहा गया है। संत-हृदय अपने दुःखसे द्रवित नहीं होता, पर-दुःखसे दुखी होता है। इसीसे संत-हृदयको नवनीतसे भी अधिक विलक्षण कोमल बताया गया है—

निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(रा०च०मा० ७।१२५।७)

व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक विरोधियोंके प्रति भी घृणा, द्वेषके विचार न रखकर दया और प्रेमके भाव रखने चाहिये। महान् विजेता लिंकनने ली (Lee) की सेनाके आत्मसमर्पण करनेपर अपने सेनापतिको आदेश

* यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः। कुलं नो विप्रदैवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः॥
यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः। सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥ (श्रीमद्भा० ९।५।१०-११)

दिया था कि वे वहाँके निवासियोंके साथ दया और प्रेमका ही व्यवहार करें।

हमारा किसीके द्वारा अनिष्ट हुआ है या हो रहा है—यह भ्रान्त धारणा हमारे मनमें उसके प्रति विरोध, घृणा, द्वेष उत्पन्न करके हमें प्रतिशोधमें प्रवृत्त करती है। यह प्रतिशोध-भावना अच्छे-अच्छे लोगोंमें बहुत दूरतक जाती है तथा जन्मान्तरोंमें भी साथ रहती है एवं नये-नये पाप-तापोंकी परम्परा चलाती रहती है। अतः इसको आने ही नहीं देना चाहिये, कहीं आ जाय तो तुरंत ही प्रेमकी प्रबल भावनासे इसको समूल नष्ट कर डालना चाहिये।

एक मनुष्यने हमें एक गाली दी, हमने उसको दो गालियाँ देकर अपनी प्रतिशोध-भावनाको चरितार्थ किया और उसमें नये द्वेष तथा प्रतिशोधभावको उत्पन्न करके पुष्ट कर दिया। यह अधिक बदला लेनेका अमंगल कार्य हुआ। एकके बदलेमें एक गाली देकर भी बदला ले लिया। हमने अपनेको सभ्य मानकर गाली नहीं दी, पर पुलिसमें रिपोर्ट करके या कोर्टमें नालिश करके उसका बदला लेनेका प्रयत्न किया। अपनेको बहुत ही भला सत्पुरुष मानकर हमने कोई कानूनी कार्रवाई भी नहीं की, परंतु यह कह दिया कि 'हम क्यों गालीके बदले गाली देकर अपनी जबान गंदी करें तथा क्यों कानूनी कार्रवाई करके अपने समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय करके वैर मोल लें। न्यायकारी ईश्वर सब देखते ही हैं, वे स्वयं ही इसको उचित दण्ड देंगे।' यों कहकर हमने न्यायकारी सर्वसमर्थ ईश्वरके दरबारमें नालिश कर दी। प्रतिशोध (बदला) लेनेकी भावनाने यहाँ भी पूरा काम किया।

इससे भी और आगे प्रतिशोधकी गुप्त भावनाका प्रकाश तब होता है, जब वर्षों बाद उस गाली देनेवालेपर कोई घोर विपत्ति आती है, उस समय हमारे मनमें प्रतिशोधका छिपा भाव प्रकट हो जाता है और मन-ही-मन हम कहते हैं—'देखो, भगवान् कितने न्यायकारी हैं! उसने हमें अमुक समय गाली दी थी, हमने तो कुछ भी बदलेमें नहीं किया, पर भगवान्ने आज उसे यह शिक्षा दे दी। अर्थात् उसपर यह विपत्ति हमें गाली देनेके फलस्वरूप ही आयी है।' इस प्रकार चाहे उसपर वह विपत्ति किसी दूसरे कर्मके फलरूपमें आयी हो, पर हम उसे अपने प्रतिशोध-खातेमें खतियाकर पापके भागी बन जाते हैं।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यह पता लगता है कि मनुष्यके हृदयमें प्रतिशोधके भाव छिपे रहकर उसे समयपर कैसे गिरा देते हैं।

अतएव परदोष-दर्शन, घृणा तथा द्वेष करके कभी भी मनमें प्रतिशोधके भावको न रहने दीजिये। घृणाके बदले प्रेम कीजिये, अनिष्टके बदले हित कीजिये, अपराधके बदले क्षमा कीजिये। कभी यह भय मत कीजिये कि आपकी इससे कभी कुछ भी हानि होगी।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

(गीता ६।४०)

भगवान्ने कहा—'प्रिय अर्जुन! मंगलकर्म करनेवाला कोई भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।' साथ ही यह भी मत सोचिये कि आपका सत्-प्रयत्न व्यर्थ होगा। वरं आपके सद्विचार तथा सद्भाव समस्त वातावरणमें फैलकर आपके हृदयमें तथा आपसे विरोध रखनेवालेके हृदयमें भी पवित्रता, मैत्री तथा शान्तिका विस्तार करेंगे।

आप किसी शत्रुको मित्र बनाना चाहते हैं तो उसके गुण देखकर उसकी सच्ची प्रशंसा कीजिये, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित कीजिये तथा उसके हितका, उसकी भलाईका शुभ आरम्भ कर दीजिये। उस प्रसंगको ही भूल जाइये, जिसके कारण आपके मनमें उसके प्रति विरोधी भाव उत्पन्न हुए थे। आप अपनी शुभ भावनासे उसके हृदयको निर्मल रूपमें देखिये, उसके हृदयमें सदा विराजित भगवान्के मंगलमय दर्शन कीजिये और मन-ही-मन सदा उसको नमन कीजिये।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(रा०च०मा० १।८।२; ७।११२ख)

मेरा कृष्ण

(बहन श्रीरैहाना तैयबजी)

कृष्ण! कितना सुन्दर! कितना सुन्दर! कितना प्यारा है यह 'शब्द', कितना मीठा है यह नाम! इस दो अक्षरके नाममें कितना जादू है। और मुझपर, मुझपर तो इस 'नाम' का अपार उपकार है। इसने मेरे जीवनको आमूल पलट दिया है और इसीके कारण आज मेरे जीवनमें एक अद्भुत सौन्दर्य, एक विचित्र रस (Romance) भर गया है और मेरे जीवनकी गहराईमें एक नवीन भावका आविर्भाव हुआ है। मैं अब सोचती हूँ और यह सोचती हुई विमूढ़-सी हो रही हूँ कि इस प्रिय नामके प्रकाशको न पाकर जीवन कितना सारहीन हो जाता! उस स्थितिकी कल्पना भी मेरे लिये असह्य है! मेरे जीवनमें कृष्णने कब प्रवेश किया? क्या कोई ऐसा भी समय था, जब वे मेरे अन्तस्-के-अन्तस्में नहीं थे? मैं विमूढ़-सी हो रही हूँ…।

मेरा वह प्यारा, सुनहरा बचपन मेरे सामने अपनी पूर्ण स्मृतियोंके साथ खेल रहा है। पाँच-छः वर्षकी मैं एक छोटी-सी बालिका थी—भगवान्‌के लिये भूखी। अपने प्यारे और दयालु 'बापू' से मैं ईश्वर तथा ईश्वरकी सृष्टिके सम्बन्धमें प्रश्न-पर-प्रश्न करती जाती। बापूने मुझे इसलाम-धर्मकी शिक्षा दी! अल्लाहके सम्बन्धमें जो दिव्य भावना है, उसे उन्होंने मुझमें भरनेकी चेष्टा की और साथ ही यह भी बतलाया कि अल्लाह-त-आला सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ तथा अपार करुणाके समुद्र हैं। श्रद्धा और भक्तिसे मेरा मस्तक झुक गया परंतु मेरे हृदयकी धारा ज्यों-की-त्यों बनी ही रही। भावप्रधान, संवेदनप्रधान होनेके कारण मेरे चित्तको एक महामहिम 'शक्ति' से सन्तोष कैसे हो पाता? मैं तो 'कुछ और' चाहती थी—कुछ ऐसी चीज ढूँढ़ रही थी, जो मेरे जीवनके निकट-से-निकट हो, प्रिय-से-प्रिय हो—कोई ऐसी चीज जो मानव हो, व्यक्त हो, कोमल हो। सौन्दर्यकी उपासना मेरे प्राणोंके भीतर बड़ी उत्कट थी। बापूसे मैं आग्रहपूर्वक पूछती—क्या अपने 'अल्लाह' परम सुन्दर नहीं हैं? परंतु वे कहते, भोली बच्ची! अल्लाहके शरीर नहीं होता, उनके नख-शिखकी बात क्यों पूछती हो? फिर 'वह सुन्दर कैसे हो सकता है?' मैं उन्हें प्यार करना चाहती थी, मैं उन्हें हृदयसे पूजना चाहती थी, परंतु हाय! वह कितनी दूरीपर थे।

वह चाहे कितने भी प्रेममय क्यों न हों, यदि मैं उनके प्रेमको ठीक उसी रूपमें जैसे मैं अपने माता-पिताके प्रेमको पाती रही हूँ न पा सकूँ, यदि उनके प्रेमका स्पर्श मैं ठीक-ठीक प्राप्त न कर सकूँ तो उनका—उन अल्लाहका परम प्रेममय होना मेरे किस कामका? मैं एक बच्ची ही तो थी—सुदूर और सर्वशक्तिसम्पन्न 'अल्लाह' के भावने मेरे कुतूहलभरे मनको उत्साहहीन करके थका-सा दिया। मैं निराश हो चली!

छः वर्षकी उम्र पारकर मैं ईसाई-धर्मकी ओर झुकी और उसमें मुझे आनन्द आया। ईसा कम-से-कम मानव तो थे, सदय और प्रेममय तो थे। उनके जो चित्र मैंने देखे, वे मुझे बहुत भाये। उन चित्रोंमें मेरी भावनाके लिये पूरा आधार मिल गया, मेरी कल्पनाकी भूख-प्यास भी उससे कुछ मिटी। मेरे माता-पिता डर गये कि कहीं मैं ईसाई न हो जाऊँ। हजरत मुहम्मदके सम्बन्धमें उन्होंने मुझे बहुत-बहुत समझाया। मुहम्मदके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा थी! परंतु उनके कोई चित्र न मिलनेके कारण मैं उनके दर्शनसे वंचित ही रहती आयी। उस समय अवस्था इतनी कम थी तथा हृदय इतना संवेदनशील एवं भावुक था कि मुसलिम सिद्धान्त अथवा मुसलिम दर्शनके प्रति मेरा रुझान हो नहीं सकता था और मैंने सुना, हम सबकी तरह मुहम्मद एक साधारण मनुष्य थे। उससे मुझे क्या लेना था? मैं तो भगवान्‌को खोजती थी—वह भगवान् जो मनुष्यरूपमें धराधामपर आया हो।

तो, क्या कृष्ण ही मेरे हृदयके द्वारको खटखटा रहे थे? कैसे कहूँ भी। मैं संगीत सीखने लगी और जीवनने जादूकी तरह पलटा खाया। जितने भी गाने मैंने सीखे, वे प्रायः सभी कृष्णको लेकर ही थे। कृष्ण! अह! कृष्ण! अरे! मैं तो इसीकी खोजमें थी। इसी 'एक' के लिये मैं भटकती रही, तड़पती रही, भूखी-प्यासी रही। इसी 'एक' की प्रतीक्षामें प्राणोंने आरती सजायी थी। इस 'नाम' को सुनते ही मेरा हृदय जाग पड़ा, नाम सुनते ही जुड़ा गया, भर गया! ऐसा मालूम हुआ—युग-युगसे, जन्म-जन्मान्तरोंसे इस 'प्यारे' से मैं परिचित हूँ। इस जीवनके प्रथम मिलनमें पहले कभी अपरिचित थी, ऐसी बात मनमें कभी आयी ही नहीं। मैं तो उन्हें जानती थी, और यह जानना, यह परिचय इतना घनिष्ठ, इतना आत्मीयतापूर्ण, इतना सहज स्वाभाविक था कि मुझे 'उन' से मिलकर किसी प्रकारका तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। कृष्णको पाकर मैं आनन्दमें छकी रहती। यह अतुल रूप-राशि, यह सौन्दर्य-सिन्धु जो जगत्के सारे रूप और सौन्दर्यसे परेका था और जिसके सपने मैं देखा करती थी, मेरी आँखोंके सामने आया। संगीतका प्रेम बड़ा प्रबल मेरे भीतर था ही। यहाँ मुरलीमनोहरके मनोहर दर्शन हुए, जिसकी जादूभरी बाँसुरीने उन्मद संगीत-लहरीसे जगत्के चर-अचरको मोहित कर लिया है। अपने माता-पिताकी मैं छोटी-सी लाड़ली लली थी, मेरे प्राणोंको कृष्णके स्पर्शमें अपूर्व सुखका अनुभव हुआ। गोकुलका वह मदनगोपाल, जिसकी मीठी-मीठी शरारतों और बाँकी चुलबुलाहट तथा सरल अट्टहाससे चित्तको बड़ा सुख मिलता था—साथीके रूपमें कितना उदार, निश्छल है! उसकी एक-एक अदा एक ओर तो प्राणोंको विमुग्ध करती है और दूसरी ओर चित्तपर उसका अद्भुत, रहस्यमय सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है, जिससे जीवन निर्मल, उन्नत तथा पवित्र हो जाता है। देव और मानवका यही संगमस्थल था। इसीकी खोज मेरे प्राणोंमें थी……!

जैसे-जैसे मैं सयानी होती गयी, कृष्णके प्रति मेरा प्रेम अधिकाधिक प्रगाढ़ होता गया। बुद्धि नये-नये कुतूहलोंमें उड़ा करती, परंतु हृदय तो श्रद्धा-प्रीतिमें उनके चरणोंमें सदा लोटता ही रहा और जो कुछ मैंने सीखा है, सुना है उससे मेरी श्रद्धा और प्रीति बढ़ती ही जा रही है। कुरानमें मेरी बड़ी आस्था थी और उसकी आयतोंको गानेमें बड़ा आनन्द मिलता था, उसका दिव्य संगीत, उसकी भावप्रवण-भाषा, पागल बना देनेवाली संगीत-लहरी, रहस्यभावनाकी अनन्तराशि, सीधे-सादे परंतु शक्तिशाली शब्दोंमें चिन्तित भाव-व्यंजना मुझपर जादूका असर करती रही है। भारतीय दर्शनने भी मुझे बहुत अधिक आकृष्ट किया है और दर्शनशास्त्रके जितने भी ग्रन्थ मिले मैं बहुत चावसे पढ़ती गयी तथा उनके सिद्धान्तोंसे तादात्म्य स्थापित करती गयी। गिरगिट जिस प्रकार रंग बदलता है, उसी तरह मैं अद्वैतवादी, द्वैतवादी, बौद्ध, कुछ अंशोंमें जैनी इस प्रकार जल्दी-जल्दी सब कुछ होती गयी! और अन्तमें मैं इस निष्कर्षपर पहुँची कि जिस प्रकार ईश्वर एक है, उसी तरह धर्म भी एक है और विभिन्न धर्मोंमें जो कुछ भेद दिखायी पड़ता है, वह केवल बाह्य है, ऊपरी है। 'धर्म' से उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध है नहीं। अब तो साधारण अर्थमें—जिस अनुदार अर्थमें इसका प्रयोग होता आया है, मैं 'धर्मात्मा' रही ही नहीं। अब मेरे लिये संसारमें बस एक ही आश्रय रह गया, और वह था 'लक्ष्य' और उसकी प्राप्तिके लिये अनवरत उद्योग; आत्मा और उसकी लक्ष्यतक पहुँचनेकी लालसा!

अब, इस स्थितिमें जाकर मैं 'वस्त्रहरणलीला' का रहस्य समझ सकी। पुनः कृष्ण मेरी चेतनामें आ पैठे और इसे छा लिया। अब वे मेरे लिये एकमात्र परमसुन्दर आदर्श, एक रहस्यभावनाकी तेजोमय मूर्ति, एक दिव्य स्वप्न जो जगत्की तथ्यताकी अपेक्षा नहीं रखता—इतना ही नहीं रहे। अब तो वह सर्वदा स्पष्ट, ठोस, सजीव-किसी भी स्थूल और व्यक्त पदार्थसे अधिक स्पष्ट,

अधिक व्यक्त; संसारकी किसी भी सजीव वस्तुसे अधिक सजीव होकर वे मेरे सम्मुख आये। मेरी कल्पनाके लोकको पारकर कृष्ण मेरे हृदयमें आ पहुँचे।

उन परम दिव्य चरणोंके स्पर्शमात्रसे मेरे भीतरके शत-शत द्वार खुल गये। नयी दृष्टिसे मैंने 'उन्हें' देखा, नये कानोंसे सुना, नये हृदयसे प्रेम किया। हजरत मुहम्मद अब मेरे लिये एक ऐतिहासिक व्यक्तिकी छायामात्र नहीं रहे। अब तो मैं उन्हें महान् शक्तिशाली आध्यात्मिक तेज:पुंज मानने लगी। ऐसा प्रतीत हुआ कि अबकी तरह कभी भी पहले मैं उन्हें समझ न सकी थी; और अब जितना प्यार करने लगी थी, युवावस्थामें उतना नहीं कर पायी थी। प्रभु ईसामसीह, भगवान् जरथुस्त्र, भगवान् बुद्ध, महावीर प्रभु—सभी मेरे लिये सजीव हो उठे। मैं सबसे प्रेम करने लगी और प्रेमके इस ज्वारमें इन्हें बिना किसी संकोचके मैंने बहुत निकटसे प्यार किया। सभी मेरे प्रेमके समान अधिकारी थे। मनसे सारे भेद-भाव मिट गये। किसीमें कुछ अन्तर रहा ही नहीं। मैं इन्हें पाकर परम स्पृहणीय धनकी स्वामिनी बन बैठी। मेरे बचपनके अल्लाह दूरसे आश्चर्यचकित स्निग्ध दृष्टिसे मेरी ओर देख रहे थे, शत-शत रूपमें मुझपर हँस रहे थे, असंख्य हाथोंसे मेरी ओर इशारा कर रहे थे, हजारों मुखसे मुझसे बोल रहे थे और सभी हृदयोंसे मुझे प्यार कर रहे थे।

अब, इस अवस्थामें पहुँचकर रासलीलाका अर्थ मैं कुछ-कुछ समझ सकी!

फिर भी, इसे समझनेमात्रसे ही कुछ होने-जानेको नहीं। मेरी तृष्णा अब भी शान्त नहीं हुई है, मेरी अतृप्ति अब भी मिटी नहीं है। 'उस' की मुझपर अपार, अतुल कृपा है—मेरी अयोग्यताकी तरह उसकी दया भी असीम है! किन्तु, तथापि, मुझे सन्तोष नहीं है—उसकी दया जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, मेरा लोभ भी वैसे ही बढ़ता जा रहा है!

उसने दयाकर अपना कुछ रहस्य बतलाया है—मुझे 'समझ' दी है; परंतु वह दिन कब आयेगा, जब वह मुझे 'हृदय' प्रदान करेगा?

क्योंकि 'दानलीला' तो अभी होनेवाली है....!

प्रेरक प्रसंग—

माताके संस्कार

(श्रीदीपचन्दजी सुथार)

ईश्वरचन्द्र 'दया' एवं 'विद्या' के सागर थे। इनके पिताका नाम ठाकुरदास बन्द्योपाध्याय तथा माताका नाम भगवतीदेवी था। वे करुणाकी प्रतिमूर्ति थीं। भूखोंको भोजन, प्यासोंको पानी, बीमारोंको औषधि देना और सेवा-शुश्रूषा करना उनका नित्यका व्रत था। उनके ये ही संस्कार उनके पुत्रोंके अन्तस्‌में अंकुरित होकर पल्लवित एवं पुष्पित होते गये। इस सन्दर्भकी एक घटना है कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने घरके लिये कुछ रजाइयाँ कलकत्ता (कोलकाता)-से भेजीं। माताने ये सब रजाइयाँ पड़ोसमें रहनेवाले गरीबोंको सर्दीमें ठिठुरते देखकर बाँट दीं और विद्यासागरको वास्तविकतासे अवगत कराते हुए और रजाइयाँ बनवाकर भेजनेके लिये लिखा। विद्यासागरने प्रत्युत्तर दिया कि—'घरके और गरीबोंके लिये और कितनी रजाइयाँ चाहिये। आपके लिखनेपर भेज दी जायेंगी।' यह मातृभक्ति एवं दीन-दुखियोंके प्रति सहानुभूतिका स्पष्ट परिचायक है। इनके छोटे भाईका नाम दीनबन्धु न्यायरत्न था। ये भी बड़े परोपकारी थे। एक दिन रास्तेमें एक दीन स्त्री फटे कपड़े पहने और चिथड़ा लपेटे जा रही थी। उसके शरीरके अंग दिखायी दे रहे थे। यह देख उन्होंने अँगोछा लपेटकर अपनी धोती उतारकर उसे दे दी। घर आनेपर माताको मालूम पड़ा तो वे गद्‌गद हो उठीं। परोपकारकी शिक्षा देती हुई ये सभी घटनाएँ एक आदर्श माताके द्वारा पुत्रोंको दिये गये उच्च संस्कारको प्रदर्शित करती हैं।

साधकोंके प्रति—

[असत्-पदार्थोंके आश्रयका त्याग]

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

असत्-पदार्थोंका आश्रय मानना मनुष्योंकी बड़ी भूल है। इन उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थोंके बिना मेरा काम नहीं चलेगा—यह सोचना मुख्य भूल है। आप स्वयं परमात्माके अंश हैं, इसलिये आप सत् हैं। संसारकी वस्तुएँ सब-की-सब परिवर्तनशील हैं, इसलिये वे असत् हैं। सत्का कभी अभाव नहीं होता अर्थात् वह कभी न रहता हो तथा उसमें किसी प्रकारकी कमी आती हो—ऐसा है ही नहीं। असत् वस्तुओंका कभी भाव नहीं होता अर्थात् वे कभी भी एकरूप रहती ही नहीं। जिस समय रहती प्रतीत होती हैं, उस समय भी वे नष्ट ही हो रही हैं। इस प्रकार इन दोनोंका (सत् और असत्का) तत्त्व तत्त्वदर्शी महापुरुषोंद्वारा देखा गया है। दोनोंके तत्त्वको जाननेका अभिप्राय यह है कि एक सत्-तत्त्वका अनुभव रह जाना—

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
>
> (गीता २।१६)

बचपनसे आजतक मैं वही हूँ—ऐसा प्रत्येक मनुष्यका अपना अनुभव है। शरीर, शक्ति, योग्यता, देश, काल, परिस्थिति, खेलके पदार्थ आदि सबमें परिवर्तन हुआ है; परंतु मैं वही हूँ। परिवर्तित होनेवाले तो हुए असत् और मैं हुआ सत्। सत् वैसा-का-वैसा रहा। आजतक इसका कभी अभाव हुआ नहीं। उसमें किसी प्रकारकी कमी आयी नहीं, फिर भी मनुष्य अपनेको असत्के अधीन मानता है और कहता है कि मेरा इनके बिना काम नहीं चलेगा। रुपये-पैसेके बिना, कुटुम्बके बिना, मकानके बिना, कपड़ोंके बिना, रोटी-अन्न-जलके बिना मेरा काम नहीं चलेगा। इस प्रकार इन परिवर्तनशील पदार्थोंका आश्रय लेना असत्का आश्रय है। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं। स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो इनको असत् कैसे कहते? असत् नाम उसीका होता है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वह किसीके आश्रित रहता है, निरन्तर मिटता रहता है, अदृश्य होता रहता है, निरन्तर अभावमें जाता रहता है। आश्चर्य होना चाहिये कि मैं सत् होकर इन असत्के पराधीन कैसे हो गया हूँ!

पराधीनतामें स्वाधीनता-बुद्धि—यह मुख्य भूल है। इस बातको आप ठीक तरहसे समझें। मान लें कि हमें एक चश्मा लेनेकी आवश्यकता हुई। चश्मा लेना है तो क्या करें? किससे कहें? कौन दिलाये? हम तो पराधीन हो गये। यदि हमारे पास रुपये होते तो हम पराधीन नहीं होते, झट (तुरंत) चश्मा मोल ले लेते, परंतु रुपया हमारे पास नहीं है, इसलिये हम पराधीन हो गये। तात्पर्य यह हुआ कि 'रुपया मेरे पास होनेसे मैं चश्मा मोल ले लेता और रुपया न होनेसे मैं पराधीन हो गया।' परंतु मनुष्य इसपर ध्यान नहीं देता कि यह रुपया क्या है? रुपया भी तो 'पर' ही है। रुपया 'स्व' थोड़े ही है, रुपया आता और जाता है और आप रहते हैं तो रुपया भी तो 'पर' ही हुआ। आप स्वयं रुपये हैं क्या? रुपयोंके अधीन होनेपर भी अपनेको स्वाधीन मान लिया—यह बड़ी भूल होती है।

पराधीनतामें स्वाधीनता-बुद्धि हो गयी—यह बड़ा भारी अनर्थ हुआ। इसके समान दूसरा अनर्थ कोई है ही नहीं। सम्पूर्ण पाप इसके बेटे हैं। पाप है, अन्याय है, झूठ है, कपट है, नरक है—सब इस बुद्धिके होनेसे ही होते हैं। आपमें पराधीनता-बुद्धि हो गयी, गजब हो गया! रुपया 'स्व' है अथवा 'पर' है? रुपयोंके अधीन होना पराधीनता है अथवा स्वाधीनता? इसपर आप भलीभाँति विचार करें। यह महान् अनर्थकी बात हो गयी कि पराधीनतामें स्वाधीनताकी बुद्धि हो गयी। मानते हैं

कि रुपये हमारे पास हों तो हम झट रेलपर, हवाई जहाजपर चढ़कर जहाँ जाना हो चले जायँ; यह ले लें, वह ले लें अर्थात् हम स्वतन्त्र हैं और रुपये हमारे पास नहीं, इसलिये हम पराधीन हुए। अब हमें औरोंके मुखकी ओर ताकना पड़ता है।

परंतु हमलोग इधर ध्यान नहीं देते कि रुपये होनेसे हम पराधीन हुए या स्वाधीन? विचारपूर्वक देखा जाय तो सिद्ध होता है कि अधिक रुपये होनेसे अधिक पराधीन और थोड़े रुपये होनेसे थोड़े पराधीन होते हैं। यद्यपि यह बात प्रत्यक्ष है कि रुपये हों तो अमुक वस्त्र ले लें, अमुक वस्तु ले लें अर्थात् हम स्वाधीन हैं और रुपये हमारे पास नहीं तो रुपयों बिना वस्तुएँ मिलतीं नहीं तो हम स्वाधीन कैसे हुए? भैया! असली स्वाधीन हम तब होंगे जब हमें कोई आवश्यकता ही न रहे। चश्मेकी आवश्यकता नहीं, वस्त्रकी आवश्यकता नहीं, अन्न और जलकी भी आवश्यकता नहीं अर्थात् हमें किसी असत् वस्तु-पदार्थकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हम सत् हैं। हम इनके बिना भी रह सकते हैं, पर ऐसी स्वाधीनता कब होगी? जब अपनेको शरीरसे अलग अनुभव करेंगे, तब सच्ची स्वाधीनता होगी।

शरीरके साथ मिलकर आप और शरीर एक हो जाते हैं। अब शरीरकी आवश्यकता आपकी आवश्यकता हो जाती है। जैसे, कोई पुरुष विवाह कर लेता है, वह स्त्रीके लिये लहँगा, नथ आदि मोल लेता है। वह कहता है कि मुझे नथ और लहँगा चाहिये। उससे पूछें कि 'क्या तुम लहँगा, नथ आदि पहनते हो?' तो वह उत्तर देता है—'नहीं! मुझे नहीं, घरमें चाहिये!' उसने जब स्त्रीके साथ सम्बन्ध कर लिया, तब स्त्रीकी आवश्यकता भी उसकी अपनी आवश्यकता हो गयी। ऐसे ही इस शरीरके साथ 'मैं और मेरापन' कर लेनेसे शरीरकी आवश्यकता आपको अपनी आवश्यकता दीखने लग गयी। यही भूल है। यह आपकी आवश्यकता नहीं है, यह शरीरकी आवश्यकता है। आपको किसी भी वस्तुकी आवश्यकता कभी नहीं हुई, न है और न होगी ही, बिलकुल नहीं है।

प्रश्न—शरीरसे अलग मैं हूँ, यह अनुभव नहीं होता, क्या करें?

उत्तर—आप सत् हैं, शरीर असत् है—यह जानते हैं या नहीं? आप अविनाशी हैं, शरीर विनाशी है, फिर अविनाशी आपकी विनाशी शरीरसे एकता कैसी? आप सत् होते हुए भी असत् शरीरसे सम्बन्ध मानते रहते हैं—यही भूल है।

प्रश्न—'शरीरसे मैं अलग हूँ'—इस अलगावको तो जानते हैं, पर यह जानकारी स्थायी नहीं रहती?

उत्तर—आप यदि इस जानकारीको स्थायी रखना चाहेंगे तो क्यों नहीं रहेगी? आपको इसके टिकाऊ न रहनेका कोई दुःख थोड़े ही है। सच्ची बात है कि आप अलग हैं, शरीर अलग है—ऐसा आपका अनुभव भी है। सच्ची बात सच्ची ही रहती है, परंतु आप इस बातका आदर नहीं करते हैं, यह आपकी भूल है।

आप शरीर-निर्वाहकी चिन्ता करते हैं, परंतु मर्मकी बात यह है कि शरीरकी आवश्यकताकी पूर्तिका प्रबन्ध पहलेसे है। अन्न, जल आदिकी शरीरकी आवश्यकताएँ स्वतः प्रारब्धसे पूरी होती हैं। मनुष्य व्यर्थमें उनकी चिन्ता करता रहता है—

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुबीर॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने स्वयं कहा है कि शरीर-निर्वाह प्रारब्धके अधीन है। आप और हम जान-बूझकर विपत्ति मोल लेते हैं। शरीरका तो जैसे निर्वाह होना होगा, वैसे होगा, चेष्टा कितनी ही कर ले, भाग्यमें यदि मरना ही होगा, तो अन्न रहते मरना पड़ेगा और यदि नहीं मरना है तो कुछ भी चेष्टा नहीं करेंगे तो भी शरीरका निर्वाह होगा।

शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध परमात्माकी ओरसे पहलेसे है, पर आपकी तृष्णाकी पूर्तिके लिये कहीं

प्रबन्ध नहीं है। इस बातपर ध्यान देना। आप जो चाहते हैं कि इतना मिल जाय, इतना मिल जाय—उस कामनाकी पूर्तिके लिये कहीं प्रबन्ध नहीं है; परंतु आपके शरीर-निर्वाहके लिये प्रबन्ध पूरा-का-पूरा है। जिसने आपको जन्म दिया है, उसने आपका पूरा प्रबन्ध कर दिया है। विचार करें कि अपनी-अपनी माँके स्तनोंमें दूधके प्रबन्धके लिये आपने या हमने कोई उद्योग किया था? वह प्रबन्ध जिसने किया था, क्या वह बदल गया? क्या वह मर गया? क्या अब नयी बात हो गयी? इसलिये निर्वाहमात्रकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये। चेष्टा करनेके लिये मैं रोकता नहीं, निर्वाहमात्रके लिये चेष्टा करें। पदार्थोंका हमारे कर्मोंके साथ सम्बन्ध है। इसलिये उद्योग करें, परिश्रम करें; परंतु चिन्ता मत करें। चिन्तन तो केवल परब्रह्म परमात्माका ही करें। चिन्तन-योग्य तो एकमात्र परमात्मतत्त्व ही है। संसारके पदार्थोंका चिन्तन तो व्यर्थ है और उनका चिन्तन करना केवल मूर्खता है।

जैसे मोटरगाड़ीकी चार अवस्थाएँ होती हैं—(१) एक तो वह गैरेजमें खड़ी है। इस समय गाड़ीका न तो इंजन चलता है और न पहिये, दोनों बन्द हैं। (२) जब मोटर चालू करते हैं, तब इंजन तो चलने लगता है, पर पहिये नहीं चलते। (३) मोटरगाड़ीको जब चालू कर देते हैं, तब चक्के भी चलते हैं और इंजन भी चलता है और (४) चलते-चलते यदि स्वच्छ ढालू मैदान आ जाय, स्पष्ट सड़क दीख रही हो, वृक्ष आदिकी कोई आड़ न हो और जमीन नीचेकी ओर हो तो उस समय इंजन बन्द कर दे तो पहिये चलते रहेंगे और इंजनमें तेल जलेगा नहीं। इस प्रकार मोटरकी चार अवस्थाएँ हुईं। इन चारों अवस्थाओंमें बढ़िया अवस्था कौन-सी है? इंजन तो चलता नहीं और चक्के चलते हैं एवं घटिया अवस्था कौन-सी हुई? तेल जले अर्थात् इंजन चले और पहिये चलें नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि खर्च तो होता नहीं और यात्रा हो जाय—यह अवस्था सबसे बढ़िया हुई। ऐसे ही हम भीतरसे चिन्ता करते हैं—यह तो है तेलका जलना (घटिया अवस्था) और चिन्ता न करके कर्तव्य-कर्म करना—यह है बिना तेल जले चक्कोंका चलना (बढ़िया अवस्था)। इस बढ़िया अवस्थाके लिये गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२।४७)

कर्म करते रहें, फलकी इच्छा कभी मत करें। अकर्मण्य कभी मत हों, क्या मिलेगा, कैसे मिलेगा—इसकी चिन्ता मत करें; क्योंकि चिन्तासे, कामनासे पदार्थोंका सम्बन्ध नहीं है। पदार्थोंका सम्बन्ध कर्मोंसे है। वे कर्म चाहे पहलेके हों अथवा वर्तमानके। चिन्तनसे केवल परमात्मा मिलते हैं। यहाँ समझ लेना चाहिये कि चिन्तन कर्म नहीं है। चिन्तन है परमात्माकी प्राप्तिकी लालसा। परमात्मा अपनी लालसासे मिलते हैं और पदार्थ कर्मोंसे मिलते हैं। इसके लिये कर्म करें, पर चिन्ताका इंजन चलाकर तेल क्यों फूँकें अर्थात् चिन्ता क्यों करें? कामना क्यों करें?

चिन्ताके विषयमें एक बात और समझनेकी है। अन्तःकरणकी दो वृत्तियाँ हैं—एक विचार और दूसरी चिन्ता। विचार करना आवश्यक है और चिन्ता करना दोष है। चिन्ता करनेसे बुद्धि नष्ट हो जाती है—'**बुद्धिः शोकेन नश्यति।**' 'चिन्ता मत करो'—ऐसा कहनेमें विचार न करनेकी बात नहीं है, प्रत्युत कार्य करनेमें विचार तो आवश्यक है। कारण कि विचारपूर्वक जो कर्म किया जायगा, वह कर्म ठीक होगा और यदि इसमें चिन्ता हो जायगी तो वह कार्य बढ़िया नहीं होगा, प्रत्युत वह काम घटिया होगा और उसके करनेमें भूल हो जायगी। जिसे शोक-चिन्ता होती है, उसे होश नहीं रहता और उसकी बुद्धि विकसित नहीं होती। इसलिये भगवान्‌ने चिन्ता न करनेके लिये कहा है तथा छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा काम विचारपूर्वक करनेके लिये कहा है।

चिन्ता करके हम अपनी आवश्यकता पूरी कर

लेंगे—यह हमारे हाथकी बात नहीं है। अपनी आवश्यकताके विषयमें विचार किया जाय तो जिन्हें हम शरीरकी वास्तविक आवश्यकता मानते हैं, वह आवश्यकता वास्तविक आवश्यकता नहीं है; क्योंकि शरीर ही जब वास्तविक नहीं है, सत् नहीं है, तब उसकी आवश्यकता वास्तविक कैसे होगी? आप स्वयं वास्तविक (सत्) हैं तो आपकी आवश्यकता ही वास्तविक आवश्यकता है। आपकी आवश्यकता है—परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेकी। यही आपकी वास्तविक आवश्यकता है। संसारकी जो कामना है और शरीर-निर्वाहमात्रकी आवश्यकता है—यह पूरी होनेवाली होगी तो पूरी हो जायगी और पूरी होनेवाली नहीं होगी तो पूरी नहीं होगी; पर परमात्मतत्त्वकी आवश्यकता आप चाहेंगे तो अवश्य पूरी होगी; क्योंकि उसीके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है।

मनुष्य-शरीर केवल खाने-पीनेके लिये नहीं मिला है। भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। रुपया कमानेके लिये नहीं मिला है। हमने शास्त्रोंमें ऐसा कहीं नहीं पढ़ा कि रुपये कमानेके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। शास्त्रोंमें ऐसा भी नहीं पढ़ा कि हृष्ट-पुष्ट बनानेके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है अथवा भोग भोगनेके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है, प्रत्युत शास्त्रोंमें यही पढ़ा है कि मनुष्य-शरीर केवल अपना उद्धार करनेके लिये, कल्याण करनेके लिये मिला है।

कल्याणके विषयमें भी एक बड़ी रहस्यकी बात है। इधर प्रायः भाई लोगोंका ध्यान नहीं जाता। संसारका आश्रय रखते हुए ही साधन करते रहते हैं। देह आदि (संसार)-का आश्रय रखते हुए ही साधन करनेसे भगवत्तत्त्वकी अनुभूति होगी—यह मानना बड़ी भूल है। कारण कि किये हुए साधनसे अहंभाव ज्यों-का-त्यों बना रहता है और सारे-के-सारे साधन अहंभावसे ही किये जाते हैं। 'अहं—मैंपन' जबतक परमात्मतत्त्वसे अभिन्न नहीं होता, तबतक परिच्छिन्नता बनी रहती है। इसलिये शरीरसे अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती।

विवेक-शक्ति मानवमात्रको प्राप्त है और उसमें अपने-आपको असत्से सर्वथा पृथक् जानकर सत्-स्वरूपमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव किया जा सकता है। मनुष्य-शरीरमें इसी विवेक-शक्तिकी महिमा है, न कि मनुष्यकी आकृतिकी। हमने असत्के साथ तादात्म्य, ममता और कामना करके ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता अर्थात् 'मैंपन' खड़ा कर लिया है। इस 'मैंपन'को विवेकद्वारा मिटा सकते हैं। 'मैंपन'के मिटनेसे तादात्म्य, ममता और कामनाका स्वतः अभाव हो जायगा। असत् वस्तुओंका आश्रय लेकर अर्थात् उनके साथ सम्बन्ध जोड़कर हमने अपनी एक अलग सत्ता मान ली—यही हमारी मुख्य भूल है। भगवत्प्रदत्त विवेकके प्रकाशमें हम उस भूलका अन्त बहुत सुगमता और शीघ्रतासे कर सकते हैं।

नारायण! नारायण! नारायण!

शिवमहिमा

(श्रीगनेशीलालजी शर्मा 'लाल')

शोभित त्रिपुण्ड भाल केशनि के मध्य चन्द्र, 'जटन' में सोहें गंगधार को झमेला है।
कर में विराजे शृंगी धारते त्रिशूल हर, मुण्डमाल साजे उर धारे नाग-सेला हैं॥
अंग में रमाये भस्म कटि मृगछाला भव्य, वाम अंग गौरी संग चढ़िवे कूं बैला है।
पास नहि कौड़ी एक दान में महान शिव, दीन कौ दयालु 'लाल' शम्भु अलबेला हैं॥
काशी के बसैया शम्भु, भंग के पिवैया नाथ, भूषण भुजंग उर गंग के धरैया हैं।
सुखकन्द शूलधर चन्द्रमा विराजै भाल, जंगल बसैया प्रभु मंगल करैया हैं॥
सुख के दिवैया भवपार के लगैया आप, विषपान करै ऐसे विपद हरैया हैं।
मारेहूँ त्रिपुरवान परम सुजान शिव, चरण-कमल 'लाल' लाज के रखैया हैं॥

आवरण-चित्र-परिचय—

तुलसीका लोकजागरण

(श्रीरामचाकरजी)

परदुःखसे द्रवित एवं दुःखित होकर उसके निवारणार्थ संत-शिरोमणि तुलसीदासजीने जो भी गाया, वह सार्वभौमिक एवं कालजयी बन गया। परदुःखकातरता ही 'मानवता' है, उसीके चलते बहेलियेके अमानवीय कार्य प्रेमरत क्रौंच पक्षीके जोड़ेमेंसे एककी हत्याकी पीड़ासे व्यथित महर्षि वाल्मीकिके हृदयसे जो करुणामय उद्‌गार निकले, वे रामायणके रूपमें प्रस्फुटित होकर तुलसीके मानस एवं अन्य ग्रन्थोंके आधार बने। तुलसीके युगमें यह प्राचीन राष्ट्र एवं यहाँकी गौरवशाली सभ्यता, संस्कृति तथा उसका प्राण 'अध्यात्म' संक्रमणकालसे गुजर रहा था। सब सामाजिक, पारिवारिक एवं धार्मिक मान्यताएँ खण्डित एवं छिन्न-भिन्न हो रही थीं। धर्म, अध्यात्म तथा चरित्र एवं नैतिक मूल्योंका जो अवमूल्यन एवं ह्रास हो गया था, उसे पुनः मानस एवं अपनी अन्य रचनाओंद्वारा स्थापित करने एवं मतिभ्रष्टोंकी मति सुधारनेका जो पराक्रम तुलसीने किया, उसका दूसरा कोई उदाहरण अन्यत्र मिलना परम कठिन है। उन्होंने स्वार्थ-परमार्थ, लोक-परलोक, जगत् एवं जगदीश्वरको किस प्रकार एक साथ साधा जा सकता है, इसकी अत्यन्त सहज, सुगम एवं व्यवहारिक विधि बतायी है। उन्होंने हमारी तमाम मूढता, जड़ता, दुःख-दारिद्र्य समाप्तकर ज्ञान एवं कर्मको भक्तिमें रूपान्तरितकर हमें सत्यवादी एवं धर्माचारी बननेके साथ सुखी एवं समृद्ध बन भगवान्‌को पानेका मार्ग प्रशस्त कर दिया है, इसके लिये उनका जितना वन्दन-अभिनन्दन एवं गुणगान किया जाय, वह कम ही होगा।

युगद्रष्टा गोस्वामीजी महाराजने परब्रह्म परमेश्वरके नरावतार 'राम' के शील, सौन्दर्य, शौर्य, माधुर्य एवं अन्य सद्‌गुणोंकी पृष्ठभूमिको लेकर उनका गायनकर जन, गण, मन सबको झकझोरकर रख दिया तथा इस धर्मप्राण देशके धर्मावलम्बियोंको नवीन दिशाबोध कराकर एक नये युगका सूत्रपात किया है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके आदर्शको उन्होंने जन-जन एवं कण-कणतक पहुँचाकर तथा उन्हें सबके हृदय-सिंहासनमें विराजमान करके समस्त वसुन्धराको 'अयोध्या' बना दिया। उन्हें नरसे नारायणत्व प्रदानकर आत्मा और परमात्माके भेदको मिटा दिया। उन्होंने अपने काव्यद्वारा सभी धार्मिक मान्यताओं, दर्शनों एवं परम्पराओंका एक ऐसा अद्भुत संगम, समन्वय एवं सन्तुलन प्रस्तुत किया, जिसने **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** तथा **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की वैदिक मान्यताको साकार कर दिया। उन्होंने हमें जगत्‌को सियाराममय देखनेकी दिव्यदृष्टि प्रदानकर 'रामराज्य' की जो रूपरेखा पेश की है, वह सम्पूर्ण जीव एवं जगत्‌के मंगलहेतु वरणीय, ग्रहणीय एवं आचरणीय बन गयी है। लोकसंग्रह, लोकरंजन एवं लोककल्याण ही उनका मुख्य ध्येय था, उसीको लेकर वे जीवनभर संघर्षरत रहे, उन्हींका पुण्य प्रताप है कि आज सत्य सनातन वैदिक धर्म एवं बूढ़ा भारत पुनर्जीवित हो गया।

उन्होंने अपने साहित्यके माध्यमसे हमें एक धर्मप्राण सार्थक जीवन जीनेकी कला सिखायी है। रामजीके चरित्रका उन्होंने इस प्रकार प्रेमपूर्वक कीर्तन किया कि वह सामान्य मनुष्यसे लेकर बुद्धिजीवियों एवं महात्माओंतकको आन्दोलित एवं प्रेरित कर गया। उसमें सभी सन्तों, ग्रन्थों एवं भगवन्तोंकी वाणी है, वह सबका सारतत्त्व है, उसमें सभी रसों एवं छन्दों तथा संस्कृत एवं लोकभाषाका अद्भुत संग्रह है। व्याकरणकी दृष्टिसे भी उसकी शैली सर्वग्राही होकर अत्यन्त ही बोधगम्य है। प्रत्येक व्यक्ति उसको समझ सकता है, अशिक्षित एवं निरक्षर भी उसको कण्ठस्थ एवं आत्मसात् करके स्वयंको कृतकृत्य कर सकता है। विद्वान् तो उसकी व्याख्या एवं शोधकर सम्मानित एवं पूजिततक हो रहे हैं। इसीलिये गोस्वामीजी इसे *'बुध बिश्राम सकल*

जन रंजनि' कहते हैं।

रामकथा इतनी लोकप्रिय है कि उसका देशमें ही नहीं विदेशोंतकमें सर्वाधिक प्रचार-प्रसार हुआ है। मोहनिशामें सोये एवं विभिन्न स्वप्नोंमें डूबे जीवको जगाने एवं उसके अहंकारको मिटानेका वह एक अनुपम शास्त्र ही नहीं, अलौकिक शस्त्र भी है। तुलसीकी कलमरूपी तलवार हमारी सारी भ्रान्तियों एवं संशयोंका मूलोच्छेद करनेमें सर्वथा समर्थ है, वह हमारे मानसको परिष्कृतकर हमें पतितसे पावन बनाकर 'सीताराम' से साक्षात्कार करानेमें सक्षम बना सकती है। जिस प्रकार एक अशान्त समुद्रमें ही कोई नाविक एक कुशल नाविक बन सकता है, इसी प्रकार इस गुणदोषमय विषमतापूर्ण द्वन्द्वात्मक संसारमें ही रहकर हम कुशल कर्मयोगी एवं सफल मानव बन तमाम सिद्धियोंको सिद्ध करनेवाले 'साधक' बन सकते हैं। यह उनके जीवनसे स्वयंसिद्ध है।

जिस देशमें सत्यधर्मपर चलकर पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष)-को प्राप्तकर परमात्मामें विलीन होना ही जीवन-लक्ष्य था, आज वही 'भारत' भौतिकतावादी सुनहरे मृगके पीछे अन्धगतिसे भागकर तथा जीवनके मूल उद्देश्यसे भटककर अधोगति अर्थात् विकासके नामपर विनाशकी ओर पतनके गर्तमें द्रुतगतिसे बढ़ रहा है। जो आर्यावर्त कभी चक्रवर्ती सम्राटोंका जनक होकर सोनेकी चिड़िया एवं विश्वगुरु कहलाता था, वह आज पराधीनों, भिखारियों एवं अज्ञानियोंकी तरह आचरणकर तथा असत्य एवं अधर्मपर चलकर आत्मघातीकी तरह व्यवहार कर रहा है। ऐसेमें सबके मंगलाकांक्षी तुलसी एवं उनकी मांगलिक रचनाएँ एक प्रकाशस्तम्भ हैं, जिन्होंने भी उनकी चरण-शरण ग्रहण की, वह दिग्विजयी होकर '**आत्मनो मोक्षाय जगद्धिताय च**' का वैदिक लक्ष्य प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता। उनकी कृतियोंको किसी एक धर्म, पन्थ, मत एवं सम्प्रदायसे न जोड़कर सम्पूर्ण विश्व-मानवतासे जोड़ना होगा, उन्हें किसी सीमा या परिधिमें बाँधना तो उनकी अवमानना करनेके समान ही होगा। राम (परम पुरुष)-के एवं माँ जगदम्बा सीता उनकी आदिशक्ति माया (प्रकृति)-के प्रतीक हैं, उन्हींसे समूचा ब्रह्माण्ड उद्भूत होकर उन्हींसे ओतप्रोत है। सबमें एवं सर्वत्र जो रम रहा है, वही परमसत्ता एवं शक्ति परब्रह्म परमेश्वर 'राम' है एवं उससे ही यह दुनिया स्थिर है तथा सृष्टिक्रम सतत गतिमान् है।

तुलसीने अपने इष्टके सच्चे सेवक होनेका धर्म पूरी निष्ठा एवं प्राणपणसे निभाया है, उन्होंने अपना तन, मन, धन एवं जीवन सभी कुछ उसीको अर्पितकर पूरे संसारको आन्दोलित कर दिया है।

इस प्रकार तुलसीने स्वयं अपने माध्यमसे सबको जाग्रत् करने एवं बोध करानेहेतु ही अपनी रचनाएँ स्वान्तःसुखाय रचित की हैं, जैसा कि उन्होंने मानसमें कहा है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

(बालकाण्ड, मंगलाचरण ७)

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

(रा०च०मा० १।३१।२)

तुलसीके उक्त अनुपम उपक्रमको बेनी कविने बहुत ही सुन्दर शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त किया है—

बेदमत सोधि, सोधि-सोधि कै पुरान सबै
संत औ असंतन को भेद को बतावतो।
कपटी कुराही कूर कलिके कुचाली जीव
कौन रामनामहू की चरचा चलावतो॥
'बेनी' कवि कहै मानो-मानो हो प्रतीति यह
पाहन-हिये में कौन प्रेम उपजावतो।
भारी भवसागर उतारतो कवन पार
जो पै यह रामायन तुलसी न गावतो॥

शुभ नहीं, अशुभ कार्योंको टालते रहो

(श्रीसीतारामजी गुप्ता)

महाभारतकालका एक प्रसंग है। धर्मराज युधिष्ठिरके समीप कोई ब्राह्मण याचना करने आया। महाराज युधिष्ठिर उस समय राज्यके कार्यमें अत्यन्त व्यस्त थे। उन्होंने नम्रतापूर्वक ब्राह्मणसे कहा—'भगवन्! आप कल पधारें, आपको अभीष्ट वस्तु प्रदान की जायगी।'

ब्राह्मण तो चला गया; किंतु भीमसेन उठे और लगे राजसभाके द्वारपर रखी हुई दुन्दुभि बजाने। उन्होंने सेवकोंको भी मंगलवाद्य बजानेकी आज्ञा दे दी। असमयमें मंगलवाद्य बजनेका शब्द सुनकर धर्मराजने पूछा—'आज इस समय मंगलवाद्य क्यों बज रहे हैं?'

सेवकने पता लगाकर बताया—'भीमसेनजीने ऐसा करनेकी आज्ञा दी है और वे स्वयं ही दुन्दुभि बजा रहे हैं?'

भीमसेनजी बुलाये गये तो बोले—'महाराजने कालको जीत लिया, इससे बड़ा मंगलका समय और क्या होगा।'

'मैंने कालको जीत लिया?' युधिष्ठिर चकित हो गये।

भीमसेनने बात स्पष्ट की—'महाराज! विश्व जानता है कि आपके मुखसे हँसीमें भी झूठी बात नहीं निकलती। आपने याचक ब्राह्मणको अभीष्ट दान कल देनेको कहा है, इसलिये कम-से-कम कलतक तो अवश्य कालपर आपका अधिकार होगा ही।'

अब युधिष्ठिरको अपनी भूलका बोध हुआ। वे बोले—'भैया भीम! तुमने आज मुझे उचित सावधान किया। पुण्यकार्य तत्काल करना चाहिये। उसे पीछेके लिये टालना ही भूल है। उन ब्राह्मणदेवताको अभी बुलाओ।'

महाराज युधिष्ठिरने तत्क्षण याचकको बुलवाया और उसे समुचित दान देकर अपनी भूलका परिमार्जन किया। संस्कृतमें एक सूक्ति है कि **'शुभस्य शीघ्रम्, अशुभस्य कालहरणम्'** अर्थात् शुभ कार्यको जितना जल्दी हो सके कर डालें, लेकिन अशुभ कार्यको निरन्तर टालते रहें।

यदि हम तत्क्षण किसीकी मदद करनेके लिये आगे आ जाते हैं तो उसकी मदद हो जाती है और एक नेक काम भी, लेकिन वह क्षण बीत गया तो सम्भव है हम उस अच्छे कार्यको करनेके लिये जीवित ही न रहें अथवा हमारा विचार बदल जाय। बहुत सारी बातें हो सकती हैं, लेकिन इतना निश्चित है कि यदि हम उस क्षणको चूक गये तो हम किसी नेक काम अथवा पुण्यसे वंचित अवश्य रह जायँगे। किसी छूट हुए नेक कामको करनेका अवसर दोबारा नहीं मिलता और हम सबने अपने जीवनमें अवश्य ही कई बार ऐसा अनुभव किया होगा। तो ठीक ही कहा गया है कि **शुभस्य शीघ्रम्** अर्थात् शुभ अथवा पुण्य कार्यको शीघ्र करें। आज ही नहीं, अभी करें।

अशुभस्य कालहरणम् अर्थात् अशुभ अथवा पापकर्मके लिये शीघ्रता न करें अपितु समय गुजर जाने दें। सम्भव है कालान्तरमें कहींसे ऐसी सद्बुद्धि मिल जाय कि पापकर्मसे विरत हो जायँ, उससे बच जायँ। आज इस विश्वमें इतने आणविक, परमाणविक एवं अन्य अस्त्र-शस्त्र उपलब्ध हैं, जिनसे इस खूबसूरत दुनियाको इसके सम्पूर्ण जीव-जगत् सहित अनेकानेक बार पूर्णतः नष्ट-ध्वस्त किया जा सकता है, लेकिन कुछ अच्छे एवं समझदार लोगोंकी **अशुभस्य कालहरणम्** नीति एवं दृष्टिके कारण ही हम जीवित हैं।

वेदव्यासजीने कहा है कि **परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्** अर्थात् परहित यानी परोपकार ही सबसे बड़ा धर्म है, पुण्य है और परपीड़न अर्थात् दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही अधर्म है, पाप है। पीड़ा चाहे शारीरिक हो अथवा मानसिक—पाप है, अतः ऐसे किसी भी पापकर्मसे बचनेके लिये एक ही उपाय है और वह

यह है कि किसी भी अशुभ कार्यको करनेमें शीघ्रता न करें। इस सन्दर्भमें महाभारतके शान्तिपर्वमें एक कथा आयी है, जिसमें महर्षि गौतमके पुत्र चिरकारी अशुभ कार्यको करनेके पूर्व देरतक सोचते रहनेके कारण एक महान् पापसे बच गये थे। वह कथा इस प्रकार है—

महर्षि गौतमका एक महान् ज्ञानी पुत्र था। उसका नाम था चिरकारी। वह किसी कार्यको करनेसे पूर्व उसपर देरतक विचार किया करता था, इसलिये उसका नाम चिरकारी पड़ गया।

एक दिनकी बात है। महर्षि गौतमकी स्त्रीद्वारा एक महान् अपराध हो गया। जब ऋषिको अपराधका पता चला तो वे अपनी स्त्रीपर बहुत कुपित हुए और अपने पुत्र चिरकारीसे यहाँतक कह डाला कि 'बेटा! तू अपनी इस दुष्कर्मा माताको मार डाल।'

इस प्रकार उस समय बिना विचार किये ही गौतम ऋषिने पुत्रको वह बात कह डाली और फिर वे वनमें चले गये।

चिरकारीने 'बहुत अच्छा' कहकर पिताकी आज्ञा स्वीकार की। फिर अपने स्वभावके अनुसार वह पिताद्वारा प्राप्त आज्ञापर देरतक विचार करता रहा। उसने सोचा—एक ओर पिताकी आज्ञा है और दूसरी ओर माताका वध। पिताकी आज्ञाका पालन करना पुत्रका परम धर्म है और माताकी रक्षा करना पुत्रका प्रधान धर्म है। अतः मैं कौन-सा कार्य करूँ, कौन-सा ऐसा उपाय करूँ जिससे पिताकी आज्ञाका पालन भी हो जाय और माताका वध भी न करना पड़े? धर्मपालनके बहाने यह मेरे ऊपर महान् संकट उपस्थित हो गया है। माताका वध करके कौन पुत्र पुत्र कहला सकता है और पिताकी आज्ञाकी अवहेलना करके कौन प्रतिष्ठा पा सकता है? जिस माताने मुझे जन्म दिया है, मेरा लालन-पालन किया है, मैं कैसे उसका वध करूँ और यदि नहीं करता हूँ तो पिताकी आज्ञाका उल्लंघन होता है। इस प्रकार विचार करते-करते चिरकारीको कभी माताका पक्ष उचित लगता और कभी पिताका पक्ष।

विलम्ब करनेका स्वभाव होनेके कारण चिरकारी बहुत समयतक विचारमें ही पड़ा रहा, सोचता-विचारता ही रहा। इसी सोच-विचारमें कितना समय निकल गया, इसका भी उसे भान नहीं रहा। वह ऊहापोहमें ही पड़ा रहा।

अपने पुत्रको पत्नी-वधकी आज्ञा देकर गौतम वनकी ओर चले तो गये किंतु जब उनका क्रोध शान्त हुआ तो वे अपने अनुचित निर्णयपर विचार करके बहुत संतप्त हो गये। इतना ही नहीं वे पत्नी-वधकी कल्पना कर रो पड़े। पश्चात्तापकी अग्निमें जलते हुए वे मन-ही-मन कहने लगे—अहो! आज मेरे अविवेकने महान् अनर्थ कर डाला है, मेरी स्त्री तो सर्वथा निर्दोष है, मैंने अपनी पतिव्रता धर्मभार्याका प्रमादरूपी व्यसनसे ग्रस्त होकर पुत्रसे ही उसका वध करा डाला, अब इस पापसे मेरा कौन उद्धार करेगा?

फिर उन्हें पुत्रके स्वभावका ध्यान आया। वे सोचने लगे कि आज यदि मेरे पुत्रने अपने स्वभावके अनुसार विलम्ब किया होगा तो मैं स्त्री-हत्याके पापसे बच सकता हूँ। फिर वे अपने पुत्रको सम्बोधितकर कहने लगे—बेटा चिरकारी! तेरा कल्याण हो, चिरकारी! तेरा मंगल हो। यदि आज भी तूने विलम्बसे कार्य करनेके अपने स्वभावका अनुसरण किया होगा, तभी तेरा चिरकारी नाम सफल हो सकता है—

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः॥

(महा० शान्ति० २६६।५४)

बेटा! आज विलम्ब करके तू वास्तवमें चिरकारी बन और मेरी पत्नी यानी अपनी माताकी रक्षा करके अपनेको भी पातकोंसे बचा ले।

ऐसा सोच-विचार करते हुए गौतम बहुत देरतक वनमें नहीं ठहर सके और वे जल्दी-जल्दी चलकर घर आ गये। उनका मन अनेक आशंकाओंसे घिरा था। जब वे आश्रमके समीप पहुँचे तो उन्होंने पुत्र चिरकारीको खड़ा पाया, चिरकारीने दौड़कर हथियार फेंककर पिताके

चरणोंको पकड़ लिया और आज्ञाका उल्लंघन हो

जानेके लिये क्षमा माँगी। इतनेमें ही गौतमने अपनी धर्मपत्नीको भी पास आते देखा, जो लज्जित-सी थी।

गौतम ऋषिकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। उन्होंने पुत्रको हृदयसे लगाते हुए कहा—'बेटा! आज तेरे चिरकारी स्वभावने हम सभीको बचा लिया है। मैंने बिना विचारे जो आज्ञा तुम्हें दे दी थी, कदाचित् तुम तत्काल ही उसका पालन कर लेते तो महान् अनर्थ हो जाता। बेटा! तुम्हारा कल्याण हो, तुम दीर्घायु हो।' तदनन्तर गौतम ऋषिने अच्छी तरह विचार कर लेनेके अनन्तर ही कार्य करना कल्याणकर होता है, इसे बताते हुए नीतिका सुन्दर उपदेश दिया।
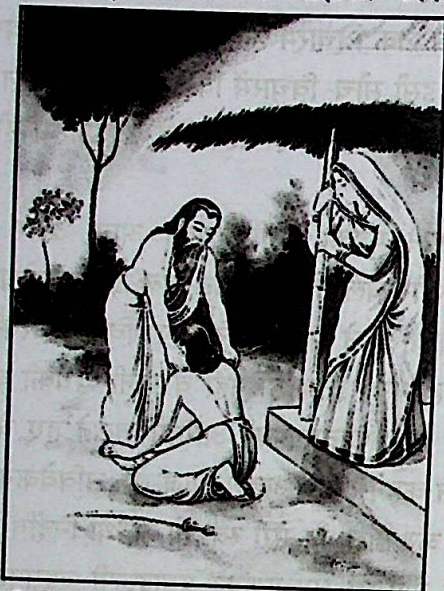
जो चिरकालतक रोषको अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्मको देरतक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता, जो पश्चात्ताप करानेवाला हो—

चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति।
पश्चात्तापकरं कर्म न किञ्चिदुपपद्यते॥

(महा०, शान्ति० २६६।७४)

इस प्रकार इन दो घटनाओंसे यह प्रमाणित होता है कि शुभ कार्यका शीघ्र सम्पादन करना जहाँ श्रेयस्कर होता है, वहीं अशुभ या पापकर्मको टालना ही कल्याणकारी होता है। अतः जीवनमें **शुभस्य शीघ्रम्** और **अशुभस्य कालहरणम्**-की नीतिका सदैव पालन करना चाहिये।

प्रेरक प्रसंग—

दूसरेको हानि पहुँचानेका मुझे क्या अधिकार है?

(श्रीजयदेवप्रसादजी बंसल)

मराठोंके सेनापति बाजीरावने एक बार मालवापर अपने सैनिकोंके साथ आक्रमण किया। शीघ्र ही उन्होंने मालवाका बहुत-सा क्षेत्र जीत लिया। जीतके बाद अपने मुख्य शिविरकी ओर लौटते हुए उनके पासका खाद्यान्न समाप्त हो गया। बाजीरावने अपने एक सरदारको कुछ सैनिकोंके साथ आस-पासके गाँवोंसे अनाज एकत्रित करके लानेको कहा।

चारों ओर युद्धका विनाश व्याप्त था। इसलिये सरदार एवं सैनिकोंको शीघ्र अनाज न मिला। इसी समय उन्हें एक वृद्ध नजर आया। सरदारने रोबमें कहा—'ओ बूढ़े! हम बाजीरावके आदमी हैं, हमें अनाज चाहिये, तुरंत कोई अच्छा खेत बता।'

वृद्ध उन लोगोंको लेकर चल दिया। सरदारने देखा कि कई खेतोंमें अनाजकी शानदार फसल लहलहा रही है। वह बोला—इस खेतकी फसल शानदार है, यहींसे ले लेते हैं।

वृद्ध बोला—'आप मेरे साथ चलिये, मैं आपको इससे बड़ा खेत दिखलाऊँगा।'

सरदार एवं सैनिकोंको लेकर वृद्ध एक बड़ेसे खेतपर पहुँचा। खेत देखकर सरदार बोला—'धोखा देता है, इस खेतमें तो फसल अच्छी नहीं है, इस बेकार खेतपर क्यों लेकर आया?'

इसपर वृद्धने कहा—'सरकार! पहलेवाला खेत दूसरेका था और यह खेत मेरा है।' आप इस खेतसे जितना अनाज चाहें ले जाइये। दूसरेको हानि पहुँचानेका मुझे क्या अधिकार है?

सरदार वृद्धका मुँह देखता रह गया। यही वृद्ध सज्जन आगे चलकर 'राम शास्त्री' के नामसे विख्यात हुए, जो मराठा-साम्राज्यके धर्माधिकारी थे।

श्रीरामकथाका एक पावन-प्रसंग—

गिरिराज गोवर्धन

(आचार्य श्रीरामरंगजी)

समुद्रके अधिदेवता वरुणदेवके निर्देशानुसार सिन्धुपर सेतुका निर्माण प्रारम्भ हो गया। सौ योजनके सेतुके लिये समुद्रतटपर शिलाएँ कहाँ थीं, जो थोड़ी-बहुत कहीं-कहीं दिखीं, वे प्रथम चरणमें ही निबट गयीं। अब कुछ दूर, फिर उनसे दूर और दूर-दूरसे वानरवीर शिलाएँ लाने लगे। नीलाचल, मलयाचल, महेन्द्राचल, सह्याद्रिमाल, विन्ध्यतककी शिलाएँ आ गयीं। उन्हें देखकर मारुतिने विचारा कि इनमें मेरी शिला कहाँ है? तुरंत उड़ चले कैलासकी ओर। अपने ही स्वरूपको अपने सम्मुख देखकर गंगाधर मुसकराते हुए उठ गये। जिस शिलापर उन्होंने सृष्टिके आरम्भसे कितनी ही समाधियाँ लगायी थीं, जिस शिलाका देव-दानव-यक्ष-गन्धर्व-नर-किन्नर-पिशाच-महानाग अपने मुकुटोंमें जटित दिव्य रत्नोंकी अनेकानेक आभाओंकी रश्मियोंसे कितनी बार उद्वर्तन (उबटन) कर चुके थे, भगवती पार्वतीसहित समस्त परिकरसे शिलासनका पूजन कराकर मारुति उसे लेकर चल पड़े।

प्रभु दिव्य दृष्टिसे देखकर सकुचा गये। उनके अन्तरसे निकलने लगा, 'नहीं, भगवान् भूतभावन पशुपति गंगाधर महादेव देवाधिदेवके इस पावन आसनपर किसीके पैर नहीं पड़ सकते। यह परमवन्दनीय तो मस्तकपर छत्रकी भाँति धारण करनेयोग्य है।' बस, तुरंत आदेश प्रसारित हो गया कि 'सेतुनिर्माण कार्य पूर्ण हो गया। जो वीर जिस शिलाको लेकर जहाँतक आ गया, उसे वहीं स्थापितकर, लौट आये।'

मारुति मधुपुरीके निकट कालिन्दी लाँघ चुके थे। प्रभुके आदेशकी अवहेलना नहीं कर पाये। कैलासपतिका आसन मधुपुरीके निकटयमुनातटपर रखकर मरे मनसे लौटने लगे। नन्दीश्वरका आसन करुण स्वरसे चीख उठा, 'मारुति! आंजनेय! अक्षहन्ता! क्या कहकर लाये थे, अब बिना कुछ कहे, कहाँ त्यागकर जा रहे हो?' श्रीहनुमान् उसकी ओर बार-बार देखते हुए, बिना कुछ कहे प्रभुके पास आ गये। प्रभु उनका उतरा हुआ मुख देखकर बोले, 'जाओ, कह आओ उन चन्द्रमौलिके त्रिभुवनपातकहरण आसनराजसे कि रामके चरण तुम्हारा स्पर्शकर महापातकी बननेका कलंक अपने मस्तकपर नहीं लगा सकते। अनेकानेक महनीय-गणके मुकुटोंसे संस्पर्शित देव! यह राम तुम्हें अपने मस्तकपर छत्रकी भाँति धारण करेगा। कुछ समय आप विश्राम करें।'

मारुतिसे आश्वासन पाकर धूर्जटिका आसन खिल उठा। समस्त देवताओंको धराधाममें अपने अंग-अंगमें आश्रय प्रदान करनेवाली धौरी-धूमरी-कारी-कजरारी-कर्बुरी-गौरी गौमाता अपनी चरण-रजसे, गोमयसे अहर्निशि उसका अभिषेक करने लगीं। उस रोमांचितके रोम-रोमसे विभिन्न ऋतुओंमें फल प्रदान करनेवाले वृक्षोंके समूह प्रकट होने लगे। वासन्तियोंको लजानेवाली अलौकिक वासन्तियाँ पुष्पोंके शृंगार कर-करके नृत्य करने लगीं। त्रिकालद्रष्टा ऋषि-महर्षि नगाधिराजके किरीट कैलासके दिव्य रत्नस्वरूप उस सिद्ध-सुरम्य गिरिपुत्रके महत् कायको धारणसे पूर्व उसकी गर्भस्तुतिके रूपमें, उसे अपनी तप:स्थली बनाने लगे।

त्रेतायुगमें दिये गये अपने वचनकी पूर्तिके निमित्त द्वापरके अन्तमें रघुनन्दनने नन्दनन्दनके वेषमें, अहंकारी इन्द्रके पूजनका निषेध करते हुए, अपनी अँगुलीरूपी दण्डपर उसे छत्रकी भाँति मस्तकपर धारण किया। सर्वप्रथम स्वयं पूजनकर उसे जन-जनके लिये गिरिराज महाराजके रूपमें पूजनीय बना दिया। उसके बदलेमें आशुतोषके आसनराजने श्रीहरिको गोविन्द, गिरिधारी, गोवर्धनप्रद, गोवर्धनवर्द्धनीय, बलारातिप्रपूजक, अचलधारक, गोवर्धनवनाश्रय, उपेन्द्र आदि अनेकानेक संज्ञाओं-जैसी अजर-अमर उपाधियोंसे अलंकृत कर डाला।

भारतीय परम्परामें गोत्र एवं प्रवरका तात्पर्य

(सुश्री रीना रघुवंशी, एम०ए० (हिन्दी, संस्कृत), एम०फिल०)

भारतीय वैदिक सनातनधर्ममतावलम्बी समाजमें नामके साथ गोत्र एवं प्रवरोंके उच्चारणकी प्रथा अति प्राचीनकालसे अनवरत चली आ रही है। गोत्र एवं प्रवर हमारी सुदृढ़तम आर्यवंश-परम्पराके परिचायक हैं। वेदांगकल्पमें इनका वर्णन लगभग सभी श्रौतसूत्र ग्रन्थों तथा कतिपय गृह्यसूत्रोंमें सूत्रकारोंने किया है, यही नहीं पुराणों, स्मृतिग्रन्थों, धर्मसूत्रोंसहित संस्कृत-वाङ्मयमें भी इस श्रेष्ठ परम्पराका प्रचुर समर्थन प्राप्त होता है।

आर्ष वैदिक पद्धतिकारोंद्वारा विभिन्न श्रौत एवं स्मार्त धार्मिक यज्ञानुष्ठानोंमें, कर्मानुष्ठानों तथा सत्रयागोंमें गोत्र तथा प्रवरोच्चारणकी प्रथा सदियोंसे चली आ रही है, किंतु ये गोत्र और प्रवर क्या हैं? कबसे आरम्भ हुए तथा कर्मकाण्डमें इनके उच्चारणका क्या उद्देश्य है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनके समाधानमें विज्ञजनोंने विभिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं।

संस्कृत वैदिक वाङ्मयमें सूत्रकालसे ही गोत्र शब्द जिस अर्थमें प्रयुक्त होता रहा है, वह है किसी एक ऋषिसे वंश-परम्पराका बढ़ना। बौधायनश्रौतसूत्रके अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ एवं कश्यप सात ऋषि हैं और अगस्त्य आठवें ऋषि हैं। इन्हीं आठोंकी सन्तानें गोत्र हैं।[१]

अर्थात् सगोत्री सारे ही व्यक्ति किसी एक पूर्वज ऋषिकी संतान होते हैं, किंतु जिस आधुनिक अर्थमें गोत्र शब्दका प्रयोग किया जाता है, वह अर्थ वेदोंमें प्राप्त नहीं होता है। वेदोंमें गोत्र शब्द बहुत बार प्रयुक्त हुआ है।[२] पाश्चात्य विद्वान् रॉथ इस शब्दकी गोशालाके रूपमें व्याख्या करते हैं।[३] गेल्डनरने इस शब्दका अर्थ यूथ अथवा समूहमें लिया है।[४] गेल्डनरद्वारा प्रस्तुत अर्थ ही परवर्ती संस्कृत साहित्यमें गोत्र शब्दके परिवार अथवा वंश-परम्पराके अर्थमें प्रयोगकी व्याख्या करता है।[५]

विविध ग्रन्थोंमें गोत्र एवं प्रवरकी परिभाषापर विविध प्रकारसे विचार किया गया है।

ऋग्वेदके अनुसार— ऋग्वेदके अनुसार गोत्रका अर्थ है गौशाला या 'गायोंका झुण्ड।' स्वाभाविक रूपकमें गोत्र अवरुद्ध जलवाले बादल या वृत्र (बादल राक्षस) या पानी देनेवाले बादलोंको छिपा रखनेवाले पर्वतशिखरको कहा गया है। एक अन्य स्थानपर ऋग्वेदमें ही बृहस्पतिके रथको गोत्रभिद् कहा गया है।[६] ऋग्वेदमें गोत्रका अर्थ समूह है, जिसका अर्थ मनुष्योंके दलसे निकालना सरल हो गया है। एक स्थानपर 'एक ही पूर्वजके वंशज' के अर्थमें भी गोत्र शब्द प्रयुक्त हुआ है।[७]

कृष्ण यजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिताके अनुसार— तैत्तिरीय संहितामें गोत्रका अर्थ दुर्ग भी है।[८] कहीं-कहीं गोत्रका अर्थ समूह है। तैत्तिरीय संहिताके बहुत-से वचन व्यक्त करते हैं कि बड़े-बड़े ऋषियोंके वंशज उन ऋषियोंके नामसे पुकारे जाते थे।

तैत्तिरीय संहितामें आया है कि 'होता भार्गव (भृगुका वंशज) है।' टीकाकारने व्याख्या की है कि

१. बौधायनः—विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः। अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तर्षयः॥
सप्तानामृषीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्रम् इति।

२. ऋक्० (१।५।१३, २।१७।१, ३।३९।४, ६।६५।५, ३।३०।२१, ४।१६।८)।

३. मैक्डानल कीथ—वैदिक इण्डेक्स, भाग एक, पृष्ठ २६३ पर उद्धृत।

४. मैक्डानल कीथ—वैदिक इण्डेक्स, भाग एक, पृष्ठ २६३ पर उद्धृत।

५. कापाडिया के० एम०—हिन्दू किनशिप, पृष्ठ ५५।

६. ऋक्० (२।२३।३)।

७. ऋक्० (२।२३।१८, ६।६५।५)।

८. तै० सं० (४।६।४।१)।

यह केवल राजसूयमें होता है। यह सम्भव है कि उन दिनों वंशानुक्रम गुरु एवं शिष्य तथा पिता एवं पुत्रसे माना जाता था। प्राचीनकालमें व्यवसाय बहुत कम थे, अतः यह सम्भव है कि उन दिनों पुत्र अपने पितासे ही व्यवसाय सीखता था।[१]

अथर्ववेदके अनुसार—अथर्ववेदमें एक स्थलपर **विश्वगोत्र्यः** पद आया है, जहाँ गोत्र शब्दका सुस्पष्ट अर्थ परस्पर सम्बद्ध मनुष्योंका दल है।[२]

यदि ब्राह्मण-साहित्यमें गोत्र शब्दकी परिभाषापर दृष्टिपात किया जाय तो ब्राह्मण-साहित्यमें कई एक ऐसे संकेत हैं, जिनसे पता चलता है कि पुरोहितोंके कुलोंके कई दल थे, जो अपने संस्थापकोंके नामसे विख्यात थे और आपसमें पूजा-अर्चनाकी विधियोंमें भिन्न थे। इन ब्राह्मण-साहित्यके प्रसिद्ध ब्राह्मण इस प्रकार हैं—

ऐतरेय ब्राह्मणके मतके अनुसार—ऐतरेय ब्राह्मणमें एक गाथा है, जो ऐतश एवं उनके पुत्र अभ्यग्निके बारेमें है। वहाँ उल्लिखित है कि ऐतशायन अभ्यग्नि लोग और्वोंमें सबसे बड़े पातकी हैं।[३] इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणकालमें गोत्रका सम्बन्ध न तो जन्मसे था और न ही आचार्योंका शिष्योंके साथ।

कौषीतकि ब्राह्मणके मतके अनुसार—कौषीतकि ब्राह्मणमें विश्वजित् यज्ञ (जिसमें अपना सर्वस्व दान कर दिया जाता है) करनेके उपरान्त व्यक्तिको अपने गोत्रके ब्राह्मणके यहाँ वर्षभर रहना चाहिये, इसमें यह उल्लिखित है कि ऐतशायन लोग भृगुओंमें निकृष्ट हो गये; क्योंकि उनके पिताने ऐसा शाप दिया था।[४]

उपनिषदोंके अनुसार—उपनिषद्में ऋषिलोग ब्रह्मज्ञानकी व्याख्या करते समय अपने शिष्योंको उनके गोत्र एवं नामसे पुकारते थे। यथा—भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव एवं कात्यायन गोत्रोंसे वैयाघ्रपद्य एवं गौतम[५]। छान्दोग्योपनिषद्में जहाँ गुरु अपने पास शिष्यरूपमें आये हुए सत्यकाम जाबालसे उसका गोत्र पूछते हैं।[६] इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन उपनिषदोंके कालमें ब्राह्मणोंकी उपशाखाओंके साथ गोत्रोंकी व्यवस्था भी प्रचलित थी, किंतु यहाँ गोत्रोंका उल्लेख यज्ञों या शिक्षाके सम्बन्धमें हुआ है, विवाहके सम्बन्धमें गोत्र या सगोत्रका संकेत नहीं मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होता है कि एक ही पूर्वज ऋषिकी समस्त सगोत्री संतानें परस्पर भाई-बहनके समान हुईं। अतः सगोत्री स्त्री-पुरुषोंमें विवाह निषेध कर दिया गया। यद्यपि ऋग्वेदमें सगोत्र विवाह-निषेधके स्पष्ट उदाहरण प्राप्त नहीं होते तथापि उस समय किसी-न-किसी रूपमें बहिर्विवाह अवश्य प्रचलित था। यथा—यम-यमी-संवाद और प्रजापति-आख्यान इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।[७] इसके अतिरिक्त भी ऋग्वेदके विवाहसूक्तसे भी यह प्रतीत होता है कि वर एवं वधू परस्पर अपरिचित होते थे। अतः ऋग्वेदकालमें विवाह-सम्बन्ध परिवारके बाहर ही निश्चित किये जाते थे।[८] जैमिनि, हिरण्यकेशी और गोभिल प्रभृति गृह्यसूत्रकारोंने भी इस बातपर बल दिया है कि कन्या समानगोत्री नहीं होनी चाहिये।[९] धर्मसूत्रों एवं स्मृतियोंके समयमें कन्या एवं वरको सगोत्री होनेका स्पष्ट निषेध किया गया है।

---

१. तै० सं० (१।८।१८)।
२. अथर्ववेद (५।२१।३)।
३. ऐ० ब्रा० (३०।७)।
४. कौ० ब्रा० (२५।१५)।
५. छान्दोग्य० उप० (५।१४।१)।
६. छान्दोग्य० उप० (४।४।१)।
७. ऋक्० (१०।१०, १०।६१।५—७)।
८. करन्दीकर एस० वी०—हिन्दू एक्सोगैमी, पृष्ठ १२।
९. जै० गृ० (१।२०), हि० गृ० (१।१९।२)।

आपस्तम्बधर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं विष्णुधर्मसूत्रमें भी वरके लिये सगोत्री कन्या विवाहहेतु निषिद्ध ठहरायी गयी है।[1] सूत्रों एवं स्मृतियोंने विवाहमें जो सगोत्री सम्बन्धको निषेध किया है, उसके इस ऐतिहासिक क्रमके विवेचनसे ज्ञात होता है कि यह प्रथा क्रमशः अनिवार्य होती गयी है। इस निषेधकी महत्ताको प्रतिपादित करनेके लिये क्रमशः परवर्ती सूत्रों एवं स्मृतियोंने सगोत्र-उल्लंघनके लिये विभिन्न दण्डोंकी व्यवस्था की है, किंतु यह दण्ड सगोत्र एवं सप्रवर दोनोंके उल्लंघनपर ही प्राप्त होती है। सूत्रोंमें जिस प्रकार सगोत्र-विवाहका निषेध किया है, उसी प्रकार सप्रवर-विवाह भी निषिद्ध माना गया है।

पी०वी० काणेने गोत्र एवं प्रवरको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गोत्र प्राचीनतम पूर्वज हैं या किसी व्यक्तिके प्राचीनतम पूर्वजोंमेंसे एक हैं, जिसके नामसे युगोंमें कुल विख्यात रहा है, किंतु प्रवर उस ऋषि या उन ऋषियोंसे बनता है जो अति प्राचीनतम रहे हैं, अत्यन्त यशस्वी रहे और जो गोत्र ऋषिके भी पूर्वज या कुछ दशाओंमें अत्यन्त प्रख्यात ऋषि रहे हैं।[2] प्रवर शब्द गोत्रसे भी प्राचीनतर है।

प्रवरका अर्थ है—बुलाना, आह्वान करना अथवा चयन करना।[3] ऋग्वेदमें 'प्रवर' शब्द प्राप्त नहीं होता है, किंतु इसी अर्थमें 'आर्षेय' शब्दका प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है ऋषि-परम्परा।[4] वस्तुतः ऋग्वेदके समयमें वैदिक विधि सम्बन्धी विभिन्न शाखाएँ अपना भिन्न स्वरूप स्थिर करती जा रही थीं। व्यक्तिगत रूपमें किये जानेवाले यज्ञोंके स्थानपर जब सामूहिक यज्ञ और सत्र प्रारम्भ होने लगे तब यज्ञ करानेवाले पुरोहितोंके लिये अनिवार्य हो गया कि वे समस्त ब्राह्मण परिवारोंको कुछ नामोंके अन्तर्गत संगठित कर दें। इस प्रकार संगठित या एकत्रित किये गये उन कुछ नामोंके उच्चारणसे ही उस विशिष्ट शाखा अथवा पद्धतिका बोध होता था। जो व्यक्ति जिस ऋषिकी पद्धतिका अनुसरण अपने यज्ञमें करता था, उसका प्रवर उसी ऋषिके नामपर हो जाता था।

प्रवरके अन्तर्गत उन ऋषियोंका नाम लेना आवश्यक क्यों था—इस प्रश्नका उत्तर कौषीतकि ब्राह्मणमें प्राप्त होता है।[5] कौषीतकि ब्राह्मणमें कहा गया है कि देवता उसकी आहुति स्वीकार नहीं करते, जिसके पूर्वज यशस्वी न रहे हों, इसलिये यज्ञकर्ताके आर्षेयका स्वयं यज्ञकर्ता या उसका पुरोहित उच्चारण करता है।[6] जिस यज्ञकर्ताके अपने पूर्वजोंमें कोई प्रसिद्ध ऋषि नहीं होता था, वह अपने पुरोहितके आर्षेयका ही उच्चारण करता था, जिससे देवता उसकी आहुतियोंको स्वीकार कर लें। ब्राह्मणोंके तो अपने प्रवर हो सकते थे, किंतु क्षत्रिय एवं वैश्यके अपने प्रवर होने कठिन थे; क्योंकि वे अपने व्यवसायोंमें व्यस्त रहते थे। अतः क्षत्रियों अथवा वैश्योंने यज्ञ कराते समय जिस पुरोहितको यज्ञ सम्पन्न करानेके लिये चुना, स्वभावतः उसीका प्रवर स्वीकार लिया। इस प्रकार वह प्रवरका उच्चारण नहीं करता है वरन् उस समयकी उस विशिष्ट पद्धति या शाखाके ऋषियोंके नामका उच्चारण करता है, जिस विशिष्ट शाखा या पद्धतिके अन्तर्गत उसके अपने पूर्वजों या स्वयं उसीने धार्मिक कृत्य और संस्कार सम्पन्न किये। इस प्रकार

---

१. सगोत्राय दुहितां न प्रयच्छेत, आप० ध० (२।११।१५), असगोत्रा च या पितुः म० स्मृ० (३।५) या० स्मृ० (१।५३), वि० ध० (२४।९), न सगोत्रां भार्यां विन्देत ब० ध० (८।१)।

२. काणे पी० वी० धर्मशास्त्रका इतिहास, प्रथम भाग पृष्ठ २९०।

३. करन्दीकर एस०वी०—हिन्दू एपिक्स, पृष्ठ ४२।

४. जायल शाकम्भरी—स्टेटस ऑफ वीमेन इन एपिक्स पृष्ठ ३०९।

५. कौ० ब्रा० (३।२)।

६. कापाडिया के० एम०—हिन्दू किनशिप, पृष्ठ ५६, ५७।

प्रवर संस्कारों या ज्ञानके उस सम्प्रदायकी ओर संकेत करता है, जिससे व्यक्तिका निरन्तर सम्बन्ध रहा है।[1]

विविध ग्रन्थोंके अनुसार गोत्र एवं प्रवरके अनेक प्रकार माने गये हैं—

महाभारतके अनुसार—महाभारतके अनुसार मौलिक गोत्र चार माने गये हैं—१. भृगु, २. अंगिरा, ३. कश्यप, ४. वसिष्ठ।

बौधायनने मूल आठ गोत्र माने हैं, इसके अतिरिक्त भी बौधायनने सहस्रों गोत्रोंका उल्लेख किया है, किंतु प्रवर केवल ४९ हैं।

प्रवरमंजरीके अनुसार—इसके अनुसार ३०० करोड़ गोत्र हैं तथा इसमें लगभग ५ हजार गोत्रोंका उल्लेख प्राप्त होता है।

इस विवेचनसे स्पष्ट होता है कि मूल रूपमें प्रवर अथवा आर्षेय एवं गोत्र ये दोनों परस्पर भिन्न थे। एक ओर प्रवर आध्यात्मिक सम्बन्धका सूचक था तो दूसरी ओर गोत्र रक्तसम्बन्धको बताता था, किंतु सूत्रकालमें कुछ सूत्रकारोंने इन दोनोंको परस्पर मिला दिया।

अध्यात्मशक्तिसे लाभ

(जीवनको ऊपर उठानेकी कला)

(पण्डित श्रीलालजी रामजी शुक्ल, एम० ए०)

मनुष्यके जीवनमें सबसे अधिक महत्त्वकी शक्ति अध्यात्मशक्ति है। इसको कुछ लोग चरित्रबल, मानसिक बल अथवा आत्मबल कहते हैं। मैंने अपने किसी लेखमें निर्देश (Suggestion) का महत्त्व मनुष्यके शारीरिक बल बढ़ने तथा बुद्धिविकास होनेमें बताया है। उसका स्थान समाजपर प्रभाव डालनेमें भी बताया गया है। जो लोग अपने आपको सदा भले निर्देश दिया करते हैं, जिनकी आत्मनिर्देशकी शक्ति प्रबल है, वे सदा सुखी रहते हैं, पर जो अपनेको बुरे निर्देश देते रहते हैं, अपने विचारोंको अपने प्रतिकूल कार्य करनेसे नहीं रोक सकते, वे सदा दुखी रहते हैं। अपने विचारोंपर अपना आधिपत्य जमा सकना यही जीवनमें सबसे महत्त्वकी बात है। जर्मनीके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शोपनहार एक जगह अपनी 'World as Will and Idea' नामक किताबमें लिखते हैं—'लोग समझा करते हैं कि हम भौतिक सामग्री अपने पास एकत्र करनेसे सुखी बन सकते हैं, पर वास्तवमें हमारा सुख-दुःख अपनी मानसिक भावनापर ही निर्भर है, अपना विचार ही हमें सुखी और दुखी बनाता है।'

मनुष्यके पास चाहे जितना धन-ऐश्वर्य क्यों न हो, यदि उसके पास अध्यात्म-बल नहीं है तो वह सदा दुखी रहेगा। जिसके पास धन-ऐश्वर्य है ऐसा व्यक्ति अपने बड़ोंके साथ अपनी तुलना किया करता है और अपनेको उनसे छोटा देखकर सदा मनमें दुखी रहता है। वह उनसे ईर्ष्या करता है। इस तरहसे आत्मग्लानि और ईर्ष्याके कारण उसकी सब मानसिक शक्ति ह्रासको प्राप्त हो जाती है, तब फिर उसे अनेक प्रकारके भय उत्पन्न होते हैं, इसके कारण वह दुखी जीवन व्यतीत करता है, और उसकी प्रबल आत्मनिर्देश-शक्ति उसके भयको वास्तविकतामें परिणत कर देती है। इस तरह वह अपनी भौतिक सामग्रीको भी खो देता है। अतएव मनको वशमें करके रखना ही सबसे बड़ा कार्य संसारमें है। शोपनहार एक दूसरी जगह लिखते हैं—'संसारका सबसे चमत्कारक व्यक्ति वह नहीं है जो दुनियाको जीत लेता है, पर वह व्यक्ति है जो अपने आपको जीत लेता है।' स्वामी रामतीर्थने इस बातको अपनी नेपोलियनपर रचित कवितामें दरसाया है। नेपोलियनने सम्पूर्ण यूरोपपर तो विजय प्राप्त

१. करन्दीकर एस० वी०—हिन्दू एक्सोगैमी पृष्ठ १०२।

कर ली, पर वह अपने आपको न जीत सका, अतएव उसका अन्तिम जीवन कितने दुःखसे बीता—यह प्रायः सभी पाठक जानते होंगे। उसे सेंट हेलनाका नरकवास करके घुल-घुलकर प्राण गँवाना पड़ा। ऐसे तो देशभक्त लोग भी प्राण गँवाते हैं, पर वह अपने भाग्यको इसके लिये कोसने लगा था और उसकी मानसिक अवस्था बड़ी करुणाजनक थी।

यह अध्यात्मशक्ति किस तरह बढ़ायी जाय। अध्यात्मशक्ति बढ़ानेके लिये कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्यका आदर्श ऊँचा होना चाहिये, उसका सिद्धान्त ऊँचा होना चाहिये। एक बार लेखक भारतवर्षकी अवनतिपर साधु श्रीकृष्णप्रेमभिखारी (प्रोफेसर रोनॉल्ड निक्सन)-से बात कर रहा था। उन्होंने भारतवर्ष और यूरोपके लोगोंकी तुलना करते हुए बताया कि यहाँके सिद्धान्त तो बड़े ऊँचे हैं, पर उनके अनुसार आचरण करनेवाले लोग बहुत कम हैं। इसीसे यह देश फिलॉसफीमें सबसे ऊँचा होकर भी दूसरोंके द्वारा शासित हो रहा है। अँगरेजीमें कहावत है—'Take care of the penny and the pound will take care of itself.' अर्थात् द्रव्यसंचयमें यदि तुम कौड़ीकी परवा करोगे तो मोहर अपने आपकी परवा स्वयं कर लेगी। यह सिद्धान्त उनके भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन दोनोंका सिद्धान्त है। अपनेमें भली आदतें डाले। अपनेको नियमबद्ध बनाये, तब अध्यात्मबल या चरित्रबल अपने-आप आ जायगा। यहाँपर लेखक कुछ उन आदतोंको तथा जीवनके साधारण नियमोंको पाठकोंके समक्ष उपस्थित करता है, जो मनुष्यके ज़ीवनको सुखी बनानेमें तथा आध्यात्मिक बल बढ़ानेमें बड़ी सहायता करते हैं।

सबसे पहले मैं ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेका नियम रखूँगा। सूर्योदयके दो घण्टे पहले मनुष्योंको अपने बिस्तरसे अलग हो जाना चाहिये। इस ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेके नियममें इतना रहस्य है कि जो इसे पालन करेगा, वह अपने जीवनको सफल बनानेमें तथा अपना मानसिक बल बढ़ानेमें बहुत ही कामयाब होगा। जो मनुष्य इस समय उठता है, वह अपनी उन्नति या पतनपर विचार करनेका मौका पाता है। आत्मा ही आत्माका शत्रु है और आत्मा ही आत्माका बन्धु है। जो अपने आपको आप ही कल्याणकी ओर नहीं ले जाता, उसे दूसरा कौन ले जा सकता है। जब अधिक लोग सोया करते हैं और प्रकृति शान्त रहती है, ऐसा समय अध्यात्मविचारके लिये बड़ा अनुकूल है। संसारमें भी कामयाब होनेके लिये सूर्योदयके दो घण्टे पहले उठना आवश्यक है। मनुष्य अपनी दिनचर्या इस समय ठीक कर लेता है। उसे कौन-सी परिस्थितियोंका सामना करना पड़ेगा और उसके लिये उसे क्या उपाय रखना चाहिये, यह ठीक कर लेता है।

यदि हम संसारके बड़े लोगोंका जीवनचरित्र जाननेका प्रयत्न करें तो मालूम होगा कि वे लोग इस नियमको पालते थे। शेरशाह एक साधारण फौजका जमादार था। उसने दिल्लीकी बादशाहत भी अपनी योग्यतासे प्राप्त कर ली और उसने देशके लिये कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य किये जो अभीतक हैं! उसकी दिनचर्या जब हम देखते हैं तो हमें उसकी इस तरहकी असाधारण उन्नतिका कारण प्रत्यक्ष मालूम होता है। वह सदा सूर्योदयके तीन घण्टे पहले उठता था और ईशवन्दना करके अपनी दिनचर्या ठीककर कार्यमें लग जाता था। भगवान् बुद्ध, शंकराचार्य तथा हमारे समस्त महर्षि भी ऐसा ही करते थे।

सबेरे उठनेका नियम इसी कारणसे महत्त्वका नहीं है कि हमें अधिक और शान्तिका समय अपनी उन्नति और पतनपर विचार करनेके लिये मिल जाता है, वरं इसका महत्त्व जीवनमें इसलिये भी है कि वह हमारे दिनभरके समस्त जीवनको नियमबद्ध बना देता है। इसके कारण हम संसारके प्रवाहमें बहे हुए व्यक्ति-जैसे अपनी क्रियाएँ नहीं करते, वरं उस प्रवाहका समय-समयपर सामना करते हैं और उसकी धारा भी अपने

अनुकूल मोड़ लेते हैं। कार्य तो हर एक मनुष्य करता ही है; क्योंकि प्रकृति किसीको भी बेकार नहीं बैठा रहने देती। पर कार्य करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है अथवा परतन्त्र, यह उसकी मानसिक स्थिति ही बता सकती है। जो मनुष्य अपने कर्तव्यका निर्णय कार्यके शुरू होनेसे पहले ही कर लेता है, वह मनुष्य आध्यात्मिक स्वतन्त्रताका सुख प्राप्त करता है। पर जिसे कर्तव्यका निर्णय किये ही बिना कार्यमें प्रवेश करना पड़ता है, वह सदा मानसिक गुलामीकी स्थितिमें रहता है। उसे जीवन भारस्वरूप प्रतीत होता है। अपने बनाये नियमपर अपने आपको ले चलना, इसीमें सुख है और दूसरेके बनाये नियमके अनुसार चलनेको बाध्य होना, इसीमें दुःख है। जो नियमबद्धतासे जीवन व्यतीत करना चाहता है उसके लिये ब्राह्ममुहूर्तमें उठना अति आवश्यक है; क्योंकि यह एक नियम दूसरे सब नियमोंको पालन करनेके लिये शक्ति प्रदान करता है।

प्रकृति हमें सदा तमस्‌की ओर ले जाती है। आलस्य मनकी वह स्थिति है जबकि वह अध्यात्मशक्तिसे च्युत रहता है। चैतन्यताका उदय होते ही आलस्यका लोप हो जाता है। चैतन्यकी वृद्धि आलस्यपर विजय प्राप्त करनेसे ही होती है। दोनों बातें एक ही हैं।

जिस प्रकार दिन शुरू होता है, वैसे ही वह समाप्त होता है। अँगरेजीमें कहावत है—'भली तरहसे किसी कार्यको शुरू करना उसे आधा समाप्त कर लेना है।' जिस मनुष्यका जीवन नियमबद्धतासे शुरू होता है, उसका जीवन उसी प्रकार समाप्त होता है। अतएव समस्त जीवनको नियमित बनानेके लिये यह नियम-पालन अति आवश्यक है। वह मानसिक शक्तिसंचयकी सर्वसुलभ कुंजी है।

प्रातःकाल उठनेके लिये अलार्म घड़ी रखना उचित नहीं। अलार्मसे हमारे कार्य दूसरेद्वारा संचालित होते हैं; हममें अपने-आपपर निर्भर होनेकी शक्ति नहीं आती। हमको अपने-आपपर भरोसा करना चाहिये। हमारा आत्मनिर्देश ही हमें समयपर जगा देता है। जो व्यक्ति अपने आपको समयपर जगनेका निर्देश करता है, वह उस समयपर अवश्य जग जाता है। हमारा अव्यक्त मन उस निर्देशको पकड़े रहता है और समय आनेपर एक नौकरका काम करता है। वास्तवमें इस अव्यक्त मनपर भरोसा करनेसे ही संसारमें सफलता प्राप्त होती है। यही हमें अनेक समयपर अशुभ कार्योंमें प्रवृत्त होनेसे रोकता है। हमें चेतावनी दिलाता है। मनुष्यको सर्वदा सजग रखता है। इसका बल बढ़ाना ही आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाना है।

जो मनुष्य अपने व्यक्त मनपर ही विश्वास करता है, उसे अपने वास्तविक बलका ज्ञान नहीं। हम कितने विद्वान् लोगोंको देखते हैं, जो बहुत ही सुन्दर उपदेश दूसरोंको दे सकते हैं तथा जो बहुत सुन्दर किताबें भी लिख लेते हैं, पर जिनका अपने मनपर अधिकार नहीं है। समय-समयपर पशु-जैसा व्यवहार करने लग जाते हैं। जो थोड़े-से अपमानपर क्रोधसे जलने लगते हैं। थोड़ी-सी आर्थिक क्षतिपर शोकसागरमें डूब जाते हैं। किसी सुन्दरीके मधुर वचन सुनकर अपनी सब नैतिकता भूल जाते हैं। इसका क्या कारण है? उन लोगोंने विद्वत्ता प्राप्त की है। पर विद्वत्ता व्यक्त मनकी वस्तु है, उसकी पहुँच अव्यक्त मनतक नहीं। दृढ़ संकल्प और अभ्यास ही अव्यक्त मनको प्रभावित करता है।

किताब पढ़नेसे बुद्धि बढ़ सकती है, पर अध्यात्मबल अभ्याससे बढ़ता है। जैसे मैस्मेरिज्म करनेवाला चित्तकी एकाग्रताके अभ्याससे अपना मानसिक बल इतना बढ़ा लेता है कि वह दूसरोंको सहज ही अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही अपने आपको सदा वशमें रखनेके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। यह अभ्यास दृढ़संकल्प और अपने-आपपर विश्वास करनेका अभ्यास है। अभ्याससे अव्यक्त मन प्रभावित होता है। अतएव मनुष्यको सदा अपने-आपपर विश्वास करनेका अभ्यास डालना चाहिये। इसके लिये प्रातःकाल उठ जाना अति

उत्तम अभ्यास है। दूसरा नियम अध्यात्मशक्तिसंचयके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करना है। उपनिषद्में कहा है—**'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'** अर्थात् यह आत्मा बलहीनको नहीं प्राप्त होता। आधुनिक मनोविज्ञानकी खोजोंसे यह प्रमाणित हो रहा है कि मनुष्यकी मूलशक्ति 'कार्यशक्ति' है। जो इसको संचय करके उचित रूपसे प्रवाहित करता है, वह अपना जीवन सफल बनाता है और जो इसे खो देता है, वह किसी कार्य करनेयोग्य नहीं रहता। इस शक्तिको संचय करनेके लिये मनको सदा विषयोंसे रोकते रहना पड़ता है। इससे अध्यात्मशक्ति स्वयं संचित हो जाती है। इसका चमत्कारपूर्ण कार्य बड़े-बड़े लोगोंकी जीवनीमें देखते हैं। अष्टावक्र, भीष्म, बुद्ध, शंकराचार्य, रामदास, रामकृष्ण आदि भारतवर्षके तथा प्लेटो, कीट्स, न्यूटन आदि पाश्चात्य पुरुषोंके जीवनोंको देखनेसे यह प्रमाणित होता है कि संसारमें कोई भी बड़ा कार्य करनेके लिये ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकारके व्यक्ति इस नियमका पालन कर सकते हैं।

अध्यात्मबलको बढ़ानेका तीसरा नियम अपने वचनको पूरा करना और समयकी पाबन्दी करना है। यूरोपवालोंके समान भारतवासी समयकी पांबन्दी नहीं कर पाते। समयकी पाबन्दी एक बड़ी तपस्या है। डेन्मार्ककी एक महिलाने इस विषयपर बातचीत करते समय लेखकसे कहा कि भारतीयोंकी इस त्रुटिका कारण यह है कि भारतीय अपने वचनको पूरा करना अपना कर्तव्य नहीं समझते। दूसरोंको बुरा न लगे इस विचारसे वे झूठा वायदा कर देते हैं। इसीलिये वे समयपर अपना कार्य नहीं कर पाते। अपने वचनको पूरा करनेका यदि हम प्रयत्न करें तो हमारा अध्यात्मबल बहुत बढ़ जायगा। वायदा पूरा न होनेपर हमें अपने आपको धिक्कारना पड़ता है, जिससे हमारे अन्दर मानसिक हीनता आ जाती है, वह न आने पाये। इस बातमें हमें यूरोपवालोंका अनुकरण करना चाहिये।

चौथा नियम दूसरोंकी निन्दा न करना है। दूसरोंकी निन्दासे हमें जितनी आध्यात्मिक हानि होती है, उतनी शायद ही और किसी चीजसे होती है। पर यह हानि प्रायः सदा अप्रत्यक्ष रहती है, अतएव यह हमारे लिये सबसे बड़ी घातक है। सभी लोग इसके शिकार बन जाते हैं। महात्माजीने शराब पीने और सिगरेट पीनेकी हानिकी तुलना करते हुए यह दिखलाया है कि सिगरेटका पीना मनुष्यके लिये अधिक हानिकर है; क्योंकि इसकी हानि प्रत्यक्ष नहीं होती और इस बातको लोग इतना बुरा नहीं कहते जितना कि शराब पीनेको, इसलिये इससे मुक्त होनेकी सम्भावना नहीं है। दूसरोंकी निन्दा करना एक प्रकारका सिगरेट पीने-जैसा नशा है, जिसका अभ्यास हमारी अध्यात्मशक्तिको नष्ट कर देता है। पं० इकबाल-नारायण गुरटूजीकी बैठकमें एक बार लेखकने यह सुवाक्य (मॉटो) लिखा देखा—'दूसरोंके बारेमें कभी ऐसी बात न कहो जैसी तुम उसके सामने न कह सको।' (Speak not of others as you would not speak of them before themselves.) बड़े-बड़े प्रतिष्ठित समाजोंमें देखा गया है कि जबतक कोई व्यक्ति उपस्थित रहता है, तबतक तो उसकी बड़ाई होती है और उसके चले जानेपर उसके चरित्रकी नुक्ताचीनी होने लगती है।

दूसरोंकी निन्दासे बचनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य मितभाषी बने। मनुष्यकी आयु दो बातोंसे अवश्य क्षीण होती है—अधिक विलास और अधिक भाषण। अपने आपको बोलनेसे रोकना ऐसा ही तप है जैसा कि ब्रह्मचर्य। इस तपके कारण असत्य और निन्दा दोनोंसे मनुष्य बचता है। जैसे सांसारिक कामयाबीकी दृष्टिसे यह वाक्य महत्त्वका है—'सबकी बात सुनो पर बोलो बहुत कम' (Give everyone thy ear but few thy tongue), उसी प्रकार अध्यात्म-दृष्टिसे भी यह सिद्धान्त बड़े महत्त्वका है।

पाँचवाँ नियम अयाचकव्रतका पालन है। दूसरोंका

उपकार सहना यह मनुष्यको सबसे बड़ा भार मानना चाहिये। जिस मनुष्यकी आदत दूसरोंका उपकार सहनेकी हो जाती है, वह संसारमें कोई भी बड़ा कार्य नहीं कर सकता। वह आत्मापर भरोसा करना नहीं सीख पाता। उसकी मानसिक अवस्था सदा गिरी हुई रहती है। अँगरेजीमें कहावत है—'A charity boy seldom prospers' (दूसरोंके दानसे पालित लड़का बहुत ही कम फूलता-फलता है)। जो बालक विद्योपार्जनके लिये दूसरोंसे मदद लेता है, उसको अपने मनमें उस पैसेको लौटा देनेका दृढ़ संकल्प करना चाहिये।

इसी नियमके साथ यह भी आता है कि दूसरोंसे हमें जहाँतक हो सके उधार भी न लेना चाहिये। जब मनुष्यको उधार लेनेकी आदत पड़ जाती है तो वह अपनी आयसे अधिक व्यय करने लगता है। उधार लेते समय रुपया नहीं देना पड़ता इसलिये एक प्रकारकी बेपरवाहीकी आदत लोगोंमें पड़ जाती है। 'रुपया देना जरूर है' ऐसा दृढ़ संकल्प नहीं रहता। यह आत्मिक पतन है और इसके कारण उनको मानसिक क्लेश भोगने पड़ते हैं। दूसरोंसे कोई वस्तु उधार न लेना एक तप है, जिसके करनेसे आत्मशक्ति बढ़ती है। यह एक छोटी-सी बात है, किंतु इसका जीवनमें बड़ा महत्त्व है।

छठा नियम स्वाध्याय करते रहनेका है। प्रतिदिन कुछ-न-कुछ अध्यात्मविषयमें मनुष्यको पढ़ते रहना चाहिये। हमारे विचार हमारे चरित्रगठनमें बड़ा स्थान रखते हैं। योगवासिष्ठमें कैवल्यप्राप्तिके चार उपाय बताये हैं—यम, सन्तोष, सत्संग और विचार। आधुनिक कालमें बड़े-से-बड़े महात्माका सत्संग हमें पुस्तकोंद्वारा सुलभ है। उससे हमें लाभ उठाना चाहिये और उस महात्माकी कही बातोंपर विचार करना चाहिये। हर एक विचार शक्तिसे भरा रहता है, जो समय आनेपर कार्यरूपमें प्रकाशित हो जाती है।

अध्यात्मशक्ति संचय करनेका सबसे बड़ा नियम प्राणीमात्रका कल्याणचिन्तन है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईशोपनिषद्)

इस अन्तिम नियममें पहले सब नियमोंका समावेश हो जाता है। जितने प्रतिष्ठित व्यक्ति हुए हैं वे दूसरोंके हृदयमें इसीलिये स्थान पा सके हैं कि वे उनको अपने समान समझते थे। मनुष्यके विचार प्रेमभावसे ही बली बनते हैं और ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ-बुद्धिसे निर्बल हो जाते हैं, मनुष्य खोखला व्यक्ति हो जाता है।

अँगरेजीमें एक कहावत है कि जो अपना जीवन तलवारके बलपर रखता है, वह उसी तलवारसे उसे खो भी देता है। मन महान् सृष्टिकर्ता है। जैसा संकल्प वह दृढ़ करता है, तदनुकूल परिस्थिति भी तैयार हो जाती है। जिस व्यक्तिको दूसरोंका भला सोचनेका अभ्यास रहता है, वह उसी अभ्यासके बलसे अपने आपका भला सोचनेमें सहज ही समर्थ हो जाता है। पर जिसका मन दूसरोंकी क्षति सोचनेमें लगा रहता है वह उस अभ्यासके कारण अपने आपको क्षति पहुँचानेके विचारोंको मनसे अलग नहीं कर सकता। वह अपने मनमें अपने कल्याणके विचार लानेमें असमर्थ होता है। फिर उसका संसार भी उसी प्रकार निर्मित हो जाता है। दूसरोंका हितचिन्तन करना ही हमें समाजमें प्रतिष्ठित बनाता है तथा इसीसे जीवन सार्थक और सुखी होता है। दूसरोंके सुखके चिन्तनसे ही मनुष्य वास्तविक सुख पाता है, उसकी आत्मा सबल होती है। अपने सुखके चिन्तनसे आत्मामें निर्बलता आ जाती है और चित्त सदा क्लेशमें रहता है।

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चले जीवितमन्दिरे। चलाचले तु संसारे धर्म एको हि निश्चलः॥

अर्थात् 'न तो लक्ष्मी सदा रहनेवाली है, न प्राण, जीवन और घर-द्वार। चलाचलीके इस डेरे—संसारमें केवल एक धर्म ही सदा रहनेवाली वस्तु है।'

कहानी—

भाग्यका मारा

(श्रीरामेश्वरजी टांटिया)

रातके नौ बजे थे। भोजन करके कुछ पढ़ रहा था कि फाटकपर शोरगुल-सा सुनाई दिया। थोड़ी देर तो ध्यान नहीं दिया परन्तु जब आवाज रोने-चिल्लानेमें बदल गयी तो नीचे जाना पड़ा।

देखा, बीस-तीस व्यक्ति एक बारह-तेरह वर्षके दुबले-से लड़केको घेरे हुए हैं, उसकी नाक और मुँहसे खून निकल रहा है। लोग बीच-बीचमें उसके दो-एक धौल भी जमा रहे हैं।

पूछनेपर पता चला कि पासके सिनेमाघरके बाहर लाई-चनेके खोमचेसे दुकानदारकी आँख बचाकर लाई लेकर भागता हुआ यह लड़का पकड़ा गया, फिर तो मोहल्लेके बदमाश लड़कोंको अपनी जोर-आजमाइश करनेका मौका मिल गया और मारते-मारते इसकी यह हालत कर दी।

उस मासूम बच्चेके चेहरेपर करुणाकी मार्मिक याचना देखी तो खोमचेवालेको दो रुपये देकर विदा किया और अन्य सब लोगोंको समझा-बुझाकर वहाँसे हटा दिया।

दरबानसे लड़केको भीतर लानेके लिये कहा। लड़का उस समय भी भयसे काँप रहा था और अन्दर आनेमें झिझक रहा था। शायद डरता था कि और मार न लगे या कोई नयी विपत्ति न आ पड़े। एक प्रकारसे धकेलते हुए ही उसे लाया गया। मैंने प्यारसे सिरपर हाथ रखकर पूछा कि उसने ऐसा बुरा काम क्यों किया? तो सुबुक-सुबुककर रोने लगा। थोड़ी देर तो कुछ बोल ही नहीं पाया। ऐसा लगता था कि मार और भूखसे बहुत ही व्याकुल हो गया है। उसे बेहोशी-सी आ रही थी। खानेके साथ एक गिलास गर्म दूध दिया, तब कहीं थोड़ा सँभल पाया।

मैंने उसे दूसरे दिन सुबहतक वहीं रहनेको कहा तो रोकर कहने लगा, ''मेरी बीमार माँ घरपर अकेली है और कलसे भूखी है, वह मेरी राह देख रही होगी। मुझे इतनी राततक नहीं पाकर बहुत चिंतित होगी, इसलिये अभी घर जाने दीजिये।'' कुछ खाने-पीनेका सामान देकर दूसरे दिन उसे फिर आनेको कहकर भेज दिया।

दो-तीन दिन बीत गये। लड़केकी भोली सूरत भूल नहीं सका। दरबानको उसे बुलाने भेजा। देखा कि बालकके सिर एवं हाथपर पट्टी बँधी है और उसके साथ एक युवा, किन्तु कृशकाय और बीमार-सी स्त्री भी है। साड़ीमें जगह-जगह पैबन्द लगे हुए थे, चेहरेपर दैन्य और बीमारीकी स्पष्ट छाया थी। फिर भी उसके नाक-नक्शकी सुघड़ाईसे लगता था कि शायद किसी समय बहुत ही रूपवती रही होगी।

कहने लगी कि उस दिन मारसे बच्चेको बुखार आ गया था, कहीं-कहीं सूजन भी। स्त्रीके बोलनेके लहजेसे समझ पाया कि पूर्वी बंगालकी है। जो आत्मकथा उसने सुनायी, वह इतने दिनों बाद भी भूल नहीं सका हूँ। कभी-कभी जब दुबले-पतले बच्चोंको भीख माँगते देखता हूँ तो उस मासूम बच्चेकी तस्वीर आँखोंके सामने आ जाती है।

खुलनाके पासके किसी देहातमें उनकी अच्छी-खासी खेतीकी जमीन थी। एक छोटा पोखर भी था। सब प्रकारसे सुखी गृहस्थी थी। देशके विभाजनके बाद भी वे लोग वहीं रह गये। यद्यपि नाना प्रकारके कष्ट और अपमान झेलने पड़ते थे, परन्तु एक तो कहीं अन्यत्र आसरा नहीं था, दूसरे पूर्वजोंके घर और जमीन आदिके प्रति मोह-ममता भी थी, जो उन्हें गाँव छोड़कर चले जानेसे रोके हुए थी।

सन् १९५८ में एक दिन अचानक ही गाँवके हिन्दुओंपर हमला बोल दिया गया। जो मुसलमान हो गये, उनके जान-माल बच गये, जिन्होंने विरोध किया, वे कत्ल कर दिये गये।

उसका पति वैष्णव, कंठीधारी कायस्थ था। किसी समय गाँवका मुखिया भी था और दोनों समय घरके ठाकुरजीकी पूजा-अर्चना करता था। वह किसी प्रकार

भी धर्मत्याग करनेको तैयार नहीं हुआ। उसे खुदाके बन्दोंने काटकर पासके पोखरमें डाल दिया। पड़ोसियोंके बीच-बचावसे किसी प्रकार बेचारी विधवा अपने आठ वर्षके बच्चेको साथ लेकर सीमा पार करके भारतके 'बनगाँव' में आकर रहने लगी। जो कुछ थोड़ा-बहुत सामान साथमें था, वह सब रास्तेमें लोगोंने लूट लिया।

उसने देखा कि वहाँपर पहलेसे ही पाकिस्तानसे आये हुए शरणार्थी बड़ी संख्यामें हैं और सरकारी कैम्पोंमें किसी प्रकार पेट पाल रहे हैं और 'परमात्माकी दया' से इनमेंसे बहुतसे अनेक प्रकारकी बीमारियोंसे जल्दी-जल्दी मरकर रोज-रोजकी यातनाओंसे शीघ्र मुक्ति भी पा रहे हैं।

२६-२७ वर्षकी आयु, सुगठित अंग-प्रत्यंग, चेहरे-पर लावण्यकी स्पष्ट आभा। विपत्तिमें सुन्दरता भी अभिशाप बन जाती है। कैम्पके लिये नाम दर्ज करानेवाला इन्सपेक्टर रातमें उसकी 'सरकी' में आकर लेट गया। शरणार्थियोंके पुनर्वास और उनकी देखभालके लिये रखे गये लोग इतने बेशर्म और निधड़क हो गये थे कि न तो उन्हें किसीकी निन्दाका डर था और न मान-मनुहारकी आवश्यकता। किसी भी शरणार्थी लड़की या स्त्रीके साथ मनचाहा व्यवहार करना वे अपना अबाध अधिकार मानते थे। शरणार्थी स्त्रियाँ बेचारी विपत्तिकी मारी, भूखे पेट और थके तनको लेकर आखिर विरोध कहाँतक कर पातीं? कैम्पमें स्थान और सरकारी सहायता न मिलनेपर सन्तानसहित तिल-तिलकर मरना पड़ता, इसलिये जीवित रहनेके लिये ऐसे अपमानको भी आवश्यक मान लिया गया था।

लेकिन सुरमा उस धातुकी नहीं बनी थी। वह अपना शरीर नहीं दे सकी और जोर-जोरसे चिल्लाने लगी। खैर, उस समय तो वह इन्सपेक्टर चुपचाप खिसक गया, परन्तु दूसरे दिन तो फिर दरख्वास्त लेकर उसीके पास जाना होता। सुरमाको यह स्वीकार न था। अतः रजिस्ट्री-ऑफिसमें न जाकर उसने अपने बच्चेको साथ लिया और रास्तेके अनेक कष्ट झेलते हुए कलकत्ता आ गयी। यहाँ उसको एक घरमें दाईका काम मिल गया, रहनेको एक छोटी-सी कोठरी भी।

रूपवती विधवा युवती मुहल्लेके युवकोंके लिये अपने-आपमें एक आकर्षण हो गयी। वे बिना काम ही उसके घरके आसपास मँडराते। कभी सीटी बजाते और कभी गन्दी आवाजें कसते। लिहाजा उसे वह आसरा भी छोड़ देना पड़ा। सोचा तो यह था कि भारत-भूमिमें सहधर्मी बन्धुओंके बीच जीवनके बाकी दिन किसी प्रकार चैनसे बिता पायेगी, अपने बच्चेकी जैसे-तैसे परवरिश करेगी, किन्तु उसे क्या पता था कि पाकिस्तानकी तरह यहाँ भी मनुष्यके रूपमें भूखे भेड़ियोंकी कमी नहीं है।

कई बार मनमें आया कि तेजाब छिड़ककर मुँहको बदरंग कर ले, परन्तु कुछ तो पीड़ाके भयसे और कुछ बच्चेका ख्याल करके वह यह सब नहीं कर पायी।

कई जगह भटकते हुए उसे ढाकुरिया लेकके पास एक शरणार्थी परिवारमें रहनेका सहारा मिल गया, परन्तु केवल आवासकी व्यवस्थासे पेटकी भूख नहीं मिटती। भीख माँगनेमें पहले-पहल तो झिझक हुई, फिर आदत पड़ गयी और किसी तरह दो जून खाना मिलने लगा।

लड़का देखनेमें सुन्दर और बातचीतमें चतुर था। सुबह-शाम जो सैलानी लेकपर आते, उनकी मोटरोंकी सफाई और सँभाल करता रहता। वे दो-चार आने बख्शीशके तौरपर उसे दे देते, पर कभी धमकाकर ऐसे ही भगा देते।

एक दिन माँको बुखार आ गया, सीलनभरी जमीनपर बिना चारपाईके सोनेसे और भूखजनित कमजोरीसे यह साधारण और स्वाभाविक बात थी। डाक्टरको दिखानेका प्रश्न ही नहीं था। पड़ोसकी एक वृद्धाने उसे दो गोली कुनैनकी लाकर दी और लाई खानेको कहा। बच्चा लाई लानेके लिये घरसे निकला। दिनभर खड़े रहनेपर भी उस दिन जब कुछ भी प्राप्ति नहीं हुई तो माँकी भूखका ख्याल करके सड़कपरके खोमचेसे उसने कुछ लाई चुरा ली, परन्तु भागते हुए पकड़ लिया गया।

यही कहानी थी, जो उसकी माँकी जुबानी मैंने उस दिन सुनी।

लड़केकी पढ़ाई नहींके समान थी, इसलिये उसे अपने ऑफिसमें चपरासीके रूपमें रख लिया। यह कई वर्ष पहलेकी बात है। सुरेन अब बड़ा हो गया है, कुछ अँगरेजी और हिन्दी भी पढ़ ली है। मेरे यहाँ जितने कर्मचारी हैं, उनमें वह सबसे मेहनती और ईमानदार है। गरीब बंगालियोंमें लड़कियोंकी कमी नहीं है। सम्भव है, थोड़े वर्षोंमें उसका विवाह हो जायेगा, तब उसकी दुखिया माँको भी बहुत वर्षों बाद गृहस्थीका थोड़ा-सा सुख देखनेको मिलेगा।

आज भी मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या उस दिन सचमुच सुरेन ने चोरी की थी? बादमें तो कभी भी कोई शिकायत नहीं मिली? मनुष्य स्वभावसे चोर होता है या परिस्थितियाँ उसे मजबूर करती हैं?

[प्रेषक—श्रीनन्दलालजी टाँटिया]

संत उद्‌बोधन

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

साधक महानुभाव! अपनी ही भूलसे अपनी बरबादी होती है, यह सर्वमान्य सत्य है। सिद्धान्तरूपसे कोई भी 'गैर' नहीं है, 'और' नहीं है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं और सभीमें अपने प्रेमास्पद हैं। इस सत्यको स्वीकार करना प्रत्येक साधकके लिये अनिवार्य है। जहाँ कहीं जो कुछ बुराई दिखायी देती है, उसका कारण केवल अपनी ही भूल है। भूलका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अपने सत्यको अपने द्वारा न मानना ही अपनी भूल है।

यदि जीवनमें भूल न होती तो हृदयमें स्वभावसे सतत प्रीतिकी गंगा लहराती और जीवन आनन्द-विभोर हो जाता, यह वैधानिक तथ्य है। प्रीति किसी व्यक्तिविशेषके प्रति नहीं होती, अपितु सभीमें जो सभीके अपने हैं, उन्हींमें प्रीति होती है। वे ही प्रीतिके अधिकारी हैं।

बुराईरहित होना सत्संगसे साध्य है और भला हो जाना दैवी विधान है। भलाई सीखी नहीं जाती, सिखायी नहीं जाती। बुराईरहित होनेसे भलाई स्वत: अभिव्यक्त होती है। बुराईरहित होनेसे भलाई व्यापक होती है।

शान्ति-सम्पादनसे अहं शुद्ध होता है और फिर स्वत: साधकमें उसकी बनावटके अनुसार साधना फलने-फूलने लगती है। इस दृष्टिसे समर्पणपूर्वक शान्त रहना बहुत ही आवश्यक है।

अपनी बुराई देखनेका ज्ञान अपनेमें है, पर असावधानीके कारण उसका उपयोग हम दूसरोंकी बुराई देखनेमें करते रहते हैं, जिसका बहुत बड़ा भाग अपनी कल्पना ही होती है, वास्तविक नहीं। वास्तविक बुराईका ज्ञान तो अपने सम्बन्धमें ही सम्भव है और उसीसे साधक सदाके लिये बुराईरहित होकर सभीके लिये उपयोगी हो जाता है।

जीवन सभीके लिये उपयोगी हो जाय, यही मानवकी वास्तविक माँग है। इस माँगकी पूर्ति अवश्य होती है। अचाह हुए बिना जीवन उपयोगी हो नहीं सकता। अचाह होनेकी स्वाधीनता अपनेको प्राप्त है। अचाह होना ही जीवनमें मृत्युका अनुभव करना है। जीवनमें मृत्युका अनुभव होनेपर अविनाशी, स्वाधीन जीवनकी प्राप्ति होती है।

अचाह होनेके लिये बलका सदुपयोग, ज्ञानका आदर एवं आस्था-श्रद्धा-विश्वासमें निर्विकल्पता अनिवार्य है। बलके सदुपयोगमें प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग निहित है और ज्ञानके आदरमें अवस्थातीत जीवनकी प्राप्ति है और विकल्परहित विश्वाससे आत्मीय सम्बन्ध, अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियताकी प्राप्ति होती है। परिस्थितिका सदुपयोग धर्म-विज्ञान है। अवस्थातीत जीवनमें ही तत्त्वज्ञान है एवं प्रियतासे ही जीवन प्रेमास्पदके लिये उपयोगी सिद्ध होता है।

सत्यको स्वीकार करना प्रत्येक साधकके लिये अनिवार्य है। सत्यको स्वीकार करनेपर सफलता अवश्यम्भावी है। इसी सद्भावनाके साथ सभीको बहुत-बहुत प्यार!

आध्यात्मिक विजय और शान्ति

(श्रीरामकिशोरजी सिंह 'विरागी')

अपना (आत्माका) मूल शत्रु अहंकार है। 'अहंकार' अर्थात् 'मैं' अपने आसपास, अड़ोस-पड़ोस, क्षेत्र, प्रदेश, देश, दुनियामें विजयके लिये प्रयासरत रहता है और येन-केन-प्रकारेण अर्थात् जैसे-तैसे करके विजय प्राप्त कर लेना चाहता है। विजय प्राप्त करके भौतिक जगत्में अपना नाम, बड़प्पन, वैभव, प्रभाव जमा लेना चाहता है। अपने-आपको सबसे बड़ा बना लेना चाहता है और अपने सामने सबको छोटा और नीचा बना देना चाहता है। यह इस संसारमें सदासे होता आया है और आज भी यह होता रहता है और आजकल तो यह प्रवृत्ति, प्रकृति, चरित्र, महत्त्वाकांक्षा और भी प्रबल होती जा रही है। हर कोई अपने-आपको सबसे बड़ा और सामनेवालेको सबसे छोटा देखना चाहता है। इस संसारमें संघर्षका यही कारण है और यह संघर्ष घोर रूपमें, घिनौने तरहसे, वीभत्स रूपमें चल रहा है। इसी कारण इस दुनियामें दुःख, दुर्गति, दुर्दशा दिनोंदिन बढ़ती चली जा रही है। लोगोंमें बेचैनी, व्यग्रता, व्याकुलता, भाग-दौड़, आपा-धापी मची हुई है।

'अहंकार' की सत्ता और स्थापना ही इसका मूल कारण है। हर कोई अपनेको हार जाय और भौतिक वैभवकी दृष्टिसे विजयका हार मेरे गलेमें आ जाय—यह महत्त्वाकांक्षा आज हर किसीको पतन और विनाशकी ओर ले जा रही है। 'अहंकार' अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' ही सब कुछ हो जाय, मेरा दबदबा ही सब जगह बन जाय। इस 'अहंकार' के कारण ही ईर्ष्याकी भावना पैदा होती है। आखिर मेरे सामनेवाला मुझसे क्यों बढ़-चढ़ करके है? उसे ईर्ष्यावश गिराने, दबाने और कुचलनेके लिये निरन्तर प्रयास करने लगता है। 'अहंकार' के कारण ही 'लोभ' आता है। जल्दी-से-जल्दी जैसे-तैसे गलत रास्तेसे अधिक-से-अधिक वैभव बना लिया जाय ताकि अपने सामनेवालोंसे बड़ा हो जाय। इस तरह जितने भी मानसिक विकार हैं—ईर्ष्या, लोभ, द्वेष, घृणा—इन सबके कारण या मूलमें अहंकार ही है। अहंकाररूपी विकारके कारण ही अन्य मानसिक विकार अपने मनमें उत्पन्न होते हैं या होते रहते हैं।

अहंकारके कारण आज अपना जीवन और सार्वजनिक जीवन भी नरकमय बना हुआ है। चारों ओर अशान्ति है। तनाव, अवसाद और मानसिक व्यग्रता आदि सब कुछ इस 'अहंकार' रूपी शत्रुके कारण ही है। जीवनका मूल लक्ष्य है—शान्ति। निर्धन-धनी, गरीब-अमीर, वैभव-सम्पन्न और अभावग्रस्त—सबके सब अशान्त और बेचैन हैं। फिर भी सब लोग विजय प्राप्त करनेके लिये मनमें लालायित हैं। मनमें भीषण लालसाको पाले हुए हैं। विजय प्राप्त करके वैभव पाने और वैभवशाली बनने तथा कहलानेके लिये भाग-दौड़ मचा रहे हैं। अपने जीवनके साथ-साथ सामूहिक जीवनको नरकमय बना रहे हैं।

'अहंकार' जो अपना मूल शत्रु है—उसकी ओर किसीका ध्यान नहीं जा रहा है और अपना शत्रु इस संसारमें अन्यत्र खोज रहे हैं—भ्रमवश शत्रु अपने सामनेवालेको मान रहे हैं, परंतु शत्रु तो अपने मन, हृदय और अन्तःकरणमें ही बैठा है। इस भयंकर शत्रुको पहचानने और जाननेकी जरूरत है। अगर विजय पाना है तो इस 'अहंकार' रूपी शत्रुपर ही विजय पाना है। यह 'अहंकार' रूपी शत्रु तो अपने अन्दर ही है; बाहर नहीं है। अध्यात्मका सहारा लेकर ही इस 'अहंकार' रूपी शत्रुपर विजय प्राप्त करना है। इसके लिये आध्यात्मिक ग्रन्थों, साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकों, आध्यात्मिक प्रसंगोंका स्वाध्याय करते हुए अपनी भावना और अवधारणाका संशोधन और शुद्धि करते रहना है। इस संशोधन और शुद्धिकरणसे ही आध्यात्मिक विजयकी प्राप्ति हो सकती है और 'अहंकार' रूपी शत्रुको परास्त करके अपने मनसे निकाल बाहर करनेमें समर्थ और सफल हुआ जा सकता है। तब जाकर शान्ति मिलेगी।

तेजीसे विलुप्त होती देशी गाय

(श्रीमनोजजी भार्गव)

हर दो सालमें देशी गायकी एक नस्लके धरतीसे विलुप्त होनेसे हैरान वैज्ञानिकों और गोपालकोंने केन्द्र-सरकारसे इस अमूल्य जैव-धरोहरको बचानेके लिये गुहार लगायी है। आजादीके समय देशमें देशी गायोंकी ६० नस्लें थीं। ये अब घटकर ३० रह गयी हैं। इनमेंसे भी छः नस्लें विलुप्तीकरणके कगारपर हैं। कृष्णनीरा नस्लकी गायोंकी संख्या तो महज ४०-५० ही बची है।

इधर गोपालकों और वैज्ञानिकोंने देशी गायके तेजीसे हो रहे विलुप्तीकरणपर चिन्ता जताते हुए इस जैव-धरोहरको बचानेके लिये एक राष्ट्रीय गोविज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संस्थानकी आवश्यकतापर बल दिया है, साथ ही पंचगव्यपर शोधको बढ़ावा देने और चरागाहोंके संरक्षण-संवर्धनकी केन्द्र-सरकारसे सिफारिश की है। गोवध रोकनेके लिये कड़े कानूनकी माँग भी की गयी है।

गोवंशकी हत्या होने और बैलोंसे खेत जोतनेकी परम्परा खत्म होनेके कारण पशुपालकों और किसानोंकी गोपालनमें दिलचस्पी कम हुई है। हालमें गोमूत्रकी माँग आयुर्वेद दवा-कम्पनियोंमें बढ़नेसे गोपालन अन्य पशुओंके पालनसे ज्यादा लाभकारी हो गया है। जरूरत सिर्फ गोमूत्र और दूसरे पंचगव्योंकी मार्केटिंगको विस्तार देनेकी है। अभीतक तो इस काममें सिर्फ कुछ संस्थाएँ ही संलग्न हैं। सरकार इसमें अनुसन्धान और प्रचार-प्रसारके जरिये काफी मदद कर सकती है। पंचगव्य-उत्पादोंकी मार्केटिंगसे पशुपालक तो खुशहाल होंगे ही, देशको बड़ी मात्रामें विदेशी मुद्रा भी मिलेगी।

इस समय देशकी कुछ आयुर्वेद दवा-कम्पनियाँ गोमूत्र महँगे दामोंपर खरीद रही हैं। उन्होंने बताया कि गोमूत्रमें ऐसे औषधीय गुण हैं, जिनसे मानव-शरीरकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। क्षय रोग और कैंसर-जैसे जानलेवा रोगोंके उपचारमें यह प्रभावी साबित हुआ है। इसपर शोध चल रहा है। उन्होंने रहस्योद्घाटन किया कि सिर्फ देशी गायोंके पंचगव्योंमें ही औषधीय गुण हैं। देशी गायका वैज्ञानिक नाम बास इंकिकस है, जबकि विदेशोंमें मिलनेवाली गाय बास टोरस है। क्रास ब्रीडिंगसे विकसित की गयी गायकी संकर प्रजातियोंके पंचगव्यमें भी औषधीय गुण नदारद हैं, ऐसेमें देशी गाय सचमुच एक अमूल्य जैव-धरोहर है।

कर्नाटकके शिमोगा, महाराष्ट्रके नागपुर, राजस्थानके जयपुर, उत्तरांचलके ऋषिकेश और उत्तर प्रदेशके कानपुरके गैर सरकारी-संगठनोंने देशी गायकी नस्लोंके संरक्षण और संवर्धनमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इन संगठनोंकी ओरसे पंचगव्यकी मार्केटिंग भी प्रभावी ढंगसे की जा रही है। कानपुर गोशाला पंचगव्यसे घनवटी नामकी दवा बनाकर मधुमेह चिकित्सामें इसके प्रभावकारी होनेका सफल प्रदर्शन कर चुकी है। यह साबित हो गया है कि गोबरसे पुते मकानोंपर रेडियेशनका प्रभाव नहीं होता है। इस वैज्ञानिक तथ्यको आधार मानकर कानपुरकी एक कम्पनी गोबरयुक्त डिस्टेम्पर बनानेके प्रयासमें लगी है। हालमें हुए अनुसन्धानोंसे जैविक खाद और वर्मी कम्पोस्ट खादसे धरतीकी उर्वरा शक्ति बढ़नेकी बात सामने आयी है। गोबरका ईंधनके रूपमें प्रयोग तो होता ही रहा है।

कर्नाटकके रामकृष्ण गोसंरक्षा मठके आँकड़ोंके मुताबिक एक गायके दूधसे मात्र १५ सौ रुपये महीनेकी आमदनी होती है, जबकि पंचगव्यसे ३० हजार रुपयेकी आय प्रति गाय प्रति महीने होती है। गोपालनकी इस विद्याको विस्तार देनेकी जरूरत है। शोधसे चिकित्सामें पंचगव्यकी उपयोगिताको विश्वस्तरपर मान्यता मिलेगी। हालाँकि देशके प्रमुख अनुसन्धान संगठन सी०एस०आई०आर० ने कई साल पहले ही गोमूत्रका अमेरिकासे पेटेन्ट करा लिया था। इस कामको आगे बढ़ाते हुए नागपुरके सुनील मानसिंहने हालमें गोमूत्रके तीन पेटेन्ट कराये हैं, लेकिन सिर्फ गोशालाओं और दूसरे गैर सरकारी संगठनोंके बलपर देशी गायकी नस्लोंको विलुप्त होनेसे बचाना मुमकिन नहीं है। इस सम्बन्धमें सरकारकी ओरसे ठोस उपायोंको अपनानेकी जरूरत है।

देशमें ऊँट, घोड़ों और बकरियों आदिके अलग शोध-संस्थान हैं; गाय तो सर्वाधिक उपयोगी पशु है, बावजूद इसके शोधके लिये अलग संस्थान नहीं है। स्वतन्त्र संस्थान बनाये जानेपर इसके संरक्षण और संवर्धनका मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

जिसमें आज्ञा देनेवालेका बुरा होता हो, वह आज्ञा मत मानो

प्रिय बहन! सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। आपकी परिस्थिति अवश्य ही कठिन है। भगवान्‌की कृपापर भरोसा रखकर उनसे बल माँगिये। उनकी कृपासे आप इस संकटसे मुक्त हो जायँगी। सासजी अथवा पतिदेवकी आज्ञाको वहाँतक अवश्य मानना चाहिये, जिसमें अपना चाहे भला न होता हो, परंतु उनका भला होता हो। उनके मंगलके लिये अपने स्वार्थका त्याग कर देना चाहिये; परंतु उनकी ऐसी आज्ञा मानना धर्म नहीं है, जिसके माननेसे अपना बुरा होता ही हो, साथ ही उनका भी बुरा होता हो। आपको वे लोग जिस बातके लिये कहते हैं, वह माननेयोग्य नहीं है; अतएव उसके लिये साफ इनकार कर देना चाहिये। इससे परिणाममें आपका अमंगल नहीं होगा; क्योंकि अच्छेका फल कभी बुरा नहीं होता। अवश्य ही एक बार आपको कुछ कठिनाई हो सकती है, उसे आपको सहना चाहिये। धर्मपालनमें पहले कष्ट हुआ ही करता है। सात्त्विक सुख पहले विष-सा लगता है, परंतु परिणाममें अमृतके सदृश होता है—

'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।'

(गीता १८। ३७)

साथ ही, सासजीकी बुद्धि शुद्ध हो, उनका भविष्य न बिगड़े, इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये और ऐसा ही बरताव यथासाध्य करना चाहिये, जिससे उनका मन बहुत उद्विग्न न हो और परिणाममें उनको शान्ति मिले। विरोधकी भावना न रखकर स्नेहकी भावना रखनी चाहिये। द्वेष पापसे होना चाहिये, पाप करनेवालेसे नहीं; क्योंकि वह तो अपने-आप दया तथा सहानुभूतिका पात्र है। भगवान् उसको सद्‌बुद्धि देकर पापमुक्त करें—यही सोचना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(२)

प्रेममें ज्ञान अनावश्यक

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। यह सत्य है कि विशुद्ध भगवत्प्रेममें ज्ञानको स्थान नहीं है और प्रेमीपर ज्ञानका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; पर इसका अभिप्राय समझना आवश्यक है। प्रेमीमें ज्ञान नहीं रहता, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें ज्ञानका अभाव है, वरं यह समझना चाहिये कि उसमें ज्ञानकी पूर्णता है। जहाँ ज्ञानकी पूर्णता है, वहाँ ज्ञानको स्थान कहाँसे मिलेगा? खाली घड़ेमें भी शब्द नहीं होता और जलसे पूरे भरे हुए घड़ेमें भी शब्द नहीं होता। पर यदि भरे घड़ेमें कोई जल और भरना चाहे तो कैसे भरेगा? वह तो नीचे ही गिरेगा। इसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ज्ञानस्वरूप भगवान्‌में प्रेम करनेवाले भक्तको भगवान्‌की नित्य प्राप्ति होनेके कारण उसके लिये ज्ञानकी चर्चा व्यर्थ है। जहाँ अज्ञान है, वहाँ ज्ञानकी आवश्यकता है, जहाँ वियोग है, वहाँ योगकी आवश्यकता है; पर जहाँ ज्ञानस्वरूप भगवान्‌की नित्य उपलब्धि है, वहाँ 'ज्ञान' का तथा भगवान्‌का नित्य संयोग है, वहाँ 'योग' की आवश्यकता नहीं है। वहाँ यदि कहीं बाहरसे ज्ञान और योग आते हैं तो वे मस्तक अवनत किये चुपचाप एक ओर छिपे खड़े रहते हैं—

नित्य 'ज्ञानमय', नित्य 'ज्ञान' जो, नित्य 'ज्ञान'के मूलाधार।
वे भगवान् प्राप्त हैं जिनको परम प्रेष्ठ बनकर साकार॥
बाहर-भीतर उनसे रहता बना एकरस जब संयोग।
तब न प्रयोजन वहाँ ज्ञानका, न कुछ प्रयोजन रखता योग॥*

शेष भगवत्कृपा।

(३)

भगवान्‌की प्रतिमा समझकर पतिका सेवन करें

प्रिय बहन! सप्रेम जय श्रीकृष्ण। आपका पत्र मिला।

* पद-रत्नाकर, पद-संख्या १३०६

आनन्दरसाम्बुधि, सौन्दर्यमाधुर्यनिधि व्रजराजकुमारमें आपका जो प्रेम है, वह सर्वथा सराहनीय है। मालूम होता है— रसिकेन्द्रशिरोमणि श्रीकृष्णकी आपपर बड़ी कृपा है।

सब जीवोंमें भगवान्‌का प्रकाश देखना भगवत्कृपासे ही सम्भव है। ऐसा विचार तो बहुतोंका होता है; परंतु यथार्थ दर्शन बिरले ही पाते हैं।

आपके पत्रके उत्तरमें मेरा निम्नलिखित निवेदन है कि मनुष्यको अपने प्रणकी रक्षा पूर्णरूपसे करनी चाहिये। इतना अवश्य है कि उसका प्रण शुभ और ज्ञानपूर्वक किया हुआ होना चाहिये। सांसारिक भोगोंसे चित्तको हटाकर अपनेको भगवान्‌के समर्पण करनेसे बढ़कर शुभ तो और क्या हो सकता है! हाँ, 'ज्ञानपूर्वक' के सम्बन्धमें जरूर विचारणीय बात है। प्रण ज्ञानपूर्वक और दृढ़ होनेपर सम्बन्धी लोग जबरन विवाह कैसे कर सकते हैं? उस समय दृढ़तापूर्वक अपनी असम्मति स्पष्ट दिखलानी चाहिये थी, परंतु विवाह हो जानेपर तो दो ही मार्ग रह जाते हैं—

(क) सहज परम वैराग्यकी स्थितिमें तन-मनकी सांसारिक चेष्टाओंका स्वाभाविक त्याग अथवा (ख) गृहस्थमें रहकर अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा परम पति श्रीभगवान्‌की पूजा। इसमें पहली बात तो स्वयमेव होती है। जब भगवान्‌के प्रेममें प्राण मत्त हो जाते हैं, भगवान्‌को छोड़कर अन्य कुछ भी ग्रहण करनेकी शक्ति ही आधारमें नहीं रह जाती, तब सबसे सहज-वैराग्य होनेके कारण अपने-आप ही बाह्य-सम्बन्धों तथा बाह्य चेष्टाओंका त्याग हो जाता है। इस अवस्थामें पति बनाने, न बनानेका प्रश्न ही नहीं रह जाता। दूसरे मार्गमें भगवान्‌की मंगलमयी प्रतिमाके रूपमें पतिकी पूजा की जाती है। क्षणभंगुर शरीरधारी जीव पति नहीं है, प्रकृतिके गुणोंसे परे, अखण्ड, नित्यविज्ञानानन्दघन भगवान् श्यामसुन्दर ही पति हैं। पर जैसे काष्ठ, पाषाण, धातु आदिकी बनी मूर्तियाँ भगवान्‌का प्रतीक होती हैं, वैसे ही विवाहित पति वहाँपर भगवान्‌का प्रतीक होता है। जैसे प्रतिमाकी पूजा स्वयं भगवान्‌की ही पूजा होती है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर पतिके लिये इस पांचभौतिक हाड़-मांसके शरीरधारी पतिकी पूजा होती है। इस पूजासे पूजा करनेवालीका प्रण भंग नहीं होता। वैसे कहा जाय तो जिस दिन विवाह हुआ, चाहे वह जबरन ही हुआ हो, उसी दिन प्रण भंग हो गया। नहीं तो अपने उपर्युक्त भावकी दृष्टिसे पतिके साथ रहनेपर भी प्रण भंग नहीं होता। पातिव्रत-धर्मका तो अवश्य ही पालन करना चाहिये। जो श्रीभगवान्‌को अपना पति मानती हैं, वे असली पतिव्रता हैं; वे किसी भोगलिप्सासे सांसारिक पतिका सेवन नहीं करतीं। केवल सेवाके भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ ही भगवान्‌की प्रतिमाके रूपमें उसका पूजन-सेवन करती हैं।

हाँ, चित्त न माने और उसमें दृढ़ता हो तो ब्रह्मचर्यकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये। ऐसी हालतमें यदि प्रार्थना करनेपर पतिदेव मीराजीके पतिकी भाँति दूसरा विवाह कर लें, तब तो अपने-आप ही सारा झगड़ा समाप्त हो गया। नहीं तो दृढ़ताके साथ अपना भाव बताकर नम्र प्रार्थना करके उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

हाँ, एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये। घर छोड़कर अन्यत्र कहीं जाना बहुत ही भयकी बात है। आजकल सभी क्षेत्रोंमें और सभी प्रकारके लोगोंमें दाम्भिक मनुष्य भरे हैं। स्वतन्त्र रहकर कपटी और कुटिल मनुष्योंसे बचना बहुत कठिन है। साधु, महात्मा, ज्ञानी, भक्त, वैष्णव, प्रेमी आदि सभी वेशों और नामोंमें बदमाश लोग घुस गये हैं और अपने बुरे आचरणोंसे इन पवित्र रूप और नामोंको कलंकित कर रहे हैं। अतएव आवेशमें आकर गृह-त्याग करनेका समय नहीं है। बहुत सोच-समझकर परिणामपर ध्यान देकर ही कोई काम करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०७२, शक १९३७, सन् २०१५, सूर्य उत्तरायण, वर्षा-ऋतु, भाद्रपद कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा रात्रिमें १०। १९ बजेतक	रवि	शतभिषा दिनमें ३। ६ बजेतक	३० अगस्त	× × ×
द्वितीया " ७। ५३ बजेतक	सोम	पू० भा० " १। २८ बजेतक	३१ "	मीनराशि दिनमें ७। ५३ बजेसे, अशून्यशयनव्रत, चन्द्रोदय रात्रिमें ७। ३२ बजे, पूर्वा फाल्गुनीका सूर्य रात्रिमें ११। ० बजे।
तृतीया सायं ५। २६ बजेतक	मंगल	उ० भा० " ११। ४७ बजेतक	१ सितम्बर	भद्रा प्रात: ६। ४० बजेसे सायं ५। २६ बजेतक, संकष्टी (बहुला) श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रिमें ८। १७ बजे, कजरीतीज, मूल दिनमें ११। ४७ बजेसे।
चतुर्थी दिनमें ३। ३ बजेतक	बुध	रेवती " १०। ९ बजेतक	२ "	मेषराशि दिनमें १०। ९ बजेसे, पंचक समाप्त दिनमें १०। ९ बजे।
पंचमी " १२। ४८ बजेतक	गुरु	अश्विनी " ८। ३८ बजेतक	३ "	चन्द्रषष्ठी, चन्द्रोदय रात्रिमें ९। ५२ बजे, मूल दिनमें ८। ३८ बजेतक।
षष्ठी " १०। ४५ बजेतक	शुक्र	भरणी " ७। २० बजेतक	४ "	भद्रा दिनमें १०। ४५ बजेसे रात्रिमें ९। ५३ बजेतक, वृषराशि दिनमें १। ५ बजेसे, हलषष्ठी (ललही छठ)।
सप्तमी " ९। ० बजेतक	शनि	कृत्तिका प्रात: ६। १७ बजेतक रोहिणी रात्रिशेष ५। ३५ बजेतक	५ "	श्रीकृष्णजन्माष्टमीव्रत (सबका)।
अष्टमी " ७। ३५ बजेतक	रवि	मृगशिरा " ५। १७ बजेतक	६ "	मिथुनराशि साय ५। २६ बजेसे, श्रीगोकुलाष्टमी।
नवमी प्रात: ६। ३७ बजेतक	सोम	आर्द्रा " ५। २८ बजेतक	७ "	भद्रा सायं ६। २२ बजेसे।
दशमी " ६। ८ बजेतक	मंगल	पुनर्वसु अहोरात्र	८ "	भद्रा प्रात: ६। ८ बजेतक, कर्कराशि रात्रिमें ११। ५९ बजेसे।
एकादशी " ६। ८ बजेतक	बुध	पुनर्वसु प्रात: ६। ९ बजेतक	९ "	जया एकादशीव्रत (सबका)।
द्वादशी " ६। ४१ बजेतक	गुरु	पुष्य " ७। २० बजेतक	१० "	प्रदोषव्रत, मूल प्रात: ७। २० बजेसे।
त्रयोदशी दिनमें ७। ४२ बजेतक	शुक्र	आश्लेषा दिनमें ८। ५९ बजेतक	११ "	भद्रा दिनमें ७। ४२ बजेसे रात्रिमें ८। २६ बजेतक, सिंहराशि दिनमें ८। ५९ बजेसे।
चतुर्दशी " ९। ११ बजेतक	शनि	मघा " ११। ४ बजेतक	१२ "	श्राद्धकी अमावस्या, कुशोत्पाटनी अमावस्या, मूल दिनमें ११। ४ बजेतक।
अमावस्या " १०। ५९ बजेतक	रवि	पू० फा० " १। २७ बजेतक	१३ "	कन्याराशि रात्रिमें ८। ५ बजेसे, अमावस्या।

सं० २०७२, शक १९३७, सन् २०१५, सूर्य उत्तरायण, वर्षा-ऋतु, भाद्रपद शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा दिनमें १। १ बजेतक	सोम	उ० फा० दिनमें ४। २ बजेतक	१४ सितम्बर	उत्तराफाल्गुनीका सूर्य सायं ५। १० बजे।
द्वितीया " ३। ५ बजेतक	मंगल	हस्त रात्रिमें ६। ३९ बजेतक	१५ "	× × ×
तृतीया सायं ५। २ बजेतक	बुध	चित्रा " ९। ७ बजेतक	१६ "	भद्रा रात्रिशेष ५। ५२ बजेसे, तुलाराशि दिनमें ७। ५३ बजेसे, हरितालिकाव्रत।
चतुर्थी रात्रिमें ६। ४२ बजेतक	गुरु	स्वाती " ११। १७ बजेतक	१७ "	भद्रा रात्रिमें ६। ४२ बजेतक, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, श्रीविश्वकर्मापूजा, कन्या संक्रान्ति रात्रिमें ३। १७ बजे, शरदऋतु प्रारम्भ।
पंचमी " ७। ५९ बजेतक	शुक्र	विशाखा " १। ४ बजेतक	१८ "	वृश्चिकराशि रात्रिमें ६। ३८ बजेसे, ऋषिपंचमी।
षष्ठी " ८। ४९ बजेतक	शनि	अनुराधा " २। २५ बजेतक	१९ "	लोलार्कषष्ठीव्रत, मूल रात्रिमें २। २५ बजेसे।
सप्तमी " ९। ७ बजेतक	रवि	ज्येष्ठा " ३। १३ बजेतक	२० "	भद्रा रात्रिमें ९। ७ बजेसे, धनुराशि रात्रिमें ३। १३ बजेसे, महारविवारव्रत, संतानसप्तमी।
अष्टमी " ८। ५४ बजेतक	सोम	मूल " ३। ३३ बजेतक	२१ "	भद्रा दिनमें ९। १ बजेतक, राधाष्टमी, मूल रात्रिमें ३। ३३ बजेतक।
नवमी " ८। १२ बजेतक	मंगल	पू० षा० " ३। २४ बजेतक	२२ "	श्रीचन्द्रजयन्ती, महानन्दानवमी।
दशमी " ७। ४ बजेतक	बुध	उ० षा० " २। ४८ बजेतक	२३ "	मकरराशि दिनमें ९। १६ बजेसे, सायन तुलाराशिका सूर्य रात्रिशेष ५। १० बजे।
एकादशी सायं ५। ३१ बजेतक	गुरु	श्रवण " १। ५४ बजेतक	२४ "	भद्रा प्रात: ६। १८ बजेसे सायं ५। ३१ बजेतक, पद्मा एकादशीव्रत (सबका)।
द्वादशी दिनमें ३। ४० बजेतक	शुक्र	धनिष्ठा " १२। ३९ बजेतक	२५ "	कुम्भराशि दिनमें १। १७ बजेसे, प्रदोषव्रत, पंचकारम्भ दिनमें १। १७ बजे।
त्रयोदशी " १। ३४ बजेतक	शनि	शतभिषा " ११। १२ बजेतक	२६ "	× × ×
चतुर्दशी " ११। १६ बजेतक	रवि	पू० षा० " ९। ३६ बजेतक	२७ "	भद्रा दिनमें ११। १६ बजेसे रात्रिमें १०। ३ बजेतक, मीनराशि दिनमें ४। ० बजेसे, व्रत-पूर्णिमा, अनन्तचतुर्दशीव्रत।
पूर्णिमा " ८। ५१ बजेतक	सोम	उ० भा० ७। ५४ बजेतक	२८ "	पूर्णिमा, महालयारम्भ हस्तका सूर्य दिनमें ८। ३३ बजे, मूल रात्रिमें ७। ५४ बजेसे, प्रतिपदाका श्राद्ध।

कृपानुभूति

भगवान् शंकरकी सेवा-पूजाका फल

घटना लगभग २५ वर्ष पूर्वकी है, तब गाँवोंमें मिट्टीके बने कच्चे मकान होते थे। एक बार बादल फटने और अतिवृष्टिके कारण मेरे ननिहालके गाँवके समीप बहनेवाली नदीमें बाढ़ आ गयी और गाँवके नब्बे प्रतिशत मकान उसकी चपेटमें आकर मलबेके ढेरमें बदल गये। घटना इतनी तेज और आकस्मिक घटी थी कि लोग सिर्फ अपना प्राण ही लेकर घरोंसे निकल सके, गृहस्थीका सारा सामान यथास्थान मलबेमें दबा पड़ा रहा। एक सप्ताहतक लोगोंको गाँवके बाहर ही आश्रय लेना पड़ा, जब जलभराव समाप्त हुआ तो लोग पुनः गाँव लौटे। गाँव अब गाँव नहीं बल्कि टेण्ट-तम्बुओंकी बनी छावनी-सा प्रतीत हो रहा था।

इस बाढ़में गाँवके रिश्तेसे मेरे मामा लगनेवाले श्रीसन्तकुमारसिंहका भी मकान मलबेमें तब्दील हो गया था। उनके पिताजीकी मृत्यु मेरे जन्मसे भी एक वर्ष पूर्व हो गयी थी, मामाजीकी भी उम्र उस समय लगभग दस वर्षकी ही रही होगी। उनके पिताजी पुलिस-सेवासे सेवानिवृत्त हुए थे और गाँवमें 'टिकैत' नामसे उनकी प्रसिद्धि थी। उनकी मृत्युके बाद मामाजीकी माताजीको पेंशन मिलनी चाहिये थी, परंतु कोई पैरवी करनेवाला न होनेके नाते इन्हें पेंशन न मिल सकी। संयोगसे उनके पास पुलिससेवा-सम्बन्धी कोई प्रमाणपत्र भी नहीं था। कई बार मामाजीने और मैंने भी बक्सों और सन्दूकमें तलाश किया कि शायद कोई कागज हाथ लग जाय, जिससे मामाजीके पिताजीकी पुलिस-सेवा सिद्ध हो, परंतु सारे प्रयास निरर्थक रहे।

मामाजी शंकरजीके बचपनसे ही भक्त रहे, वे गाँवके शिवालयमें नित्य प्रति पूजा और मन्दिरकी साफ-सफाई करते। कहीं अखण्ड रामायण होता तो वे जरूर उसमें शामिल होते। बाढ़ आये और घर गिरे छः माह बीत चुके थे। उसी समयकी यह घटना है, बाढ़में मलबा बने अपने घरके पुनर्निर्माणहेतु वे नींव खुदवा रहे थे। उस समय मैं भी गाँव गया हुआ था। मैंने उन्हें खुदाई कराते देखकर हँसते हुए कहा—'मामा! हड़प्पाकी खुदाई हो रही है क्या?' मामाजीने कहा—'खुदाई क्या भैया! सोच रहा हूँ, एक-आध कमरा पक्का बनवा लूँ, कबतक टेण्ट-तम्बूमें रहा जाय?'

अभी कुशल-क्षेमकी बातें हो ही रही थीं कि खुदाई कर रहे मजदूरोंका फावड़ा जैसे किसी लोहेकी वस्तुसे टकराया हो, ऐसी ध्वनि हुई। सँभालकर खुदाई करनेपर एक लोहेका बक्सा मिला, उसे निकालकर देखा गया तो उसमें रखे कपड़े सब सड़ गये थे। अचानक मेरी नजर उसमें एक पुराने-से कागजपर पड़ी, मैंने उसे निकालकर देखा तो पता चला कि वह मामाजीके पिताजीके रिटायरमेन्टका आदेश था, जो जिला उन्नावके एस० पी० कार्यालयसे निर्गत हुआ था। अचानक इतना बड़ा प्रमाण देखकर सब लोग आश्चर्यचकित हो गये। मामाजी कहने लगे—यह बक्सा तो मैंने कई बार देखा था, तुमने भी देखा था, पर तब इसमें कुछ नहीं मिला। अब घर गिरे भी छः महीना हो चुका है। इस बक्सेमें रखे कपड़े सड़ गये हैं, फिर भी यह कागज सुरक्षित बचा है! आश्चर्य है!

मैंने कहा कि 'मामाजी! यह आपके द्वारा की गयी शंकरजीकी सेवा-पूजाका फल है।' वहाँ उपस्थित अन्य लोगोंने भी मेरी बातका समर्थन किया और मामाजीकी शिवभक्तिकी सराहना की। बादमें उसी कागजके आधारपर मामाजीकी माताजीके नाम पेंशन बँध गयी, तीस सालसे जो रुकी पेंशन थी, वह भी प्राप्त हो गयी। आज उनका एक लड़का मिलिट्रीमें है, गाँव और शहर दोनों जगह पक्के मकान हैं। यह सब भगवान् सदाशिवकी कृपासे ही सम्भव है। धन्य हैं भगवान् शिव और धन्य है उनकी कृपा!

—जयदीप सिंह

पढ़ो, समझो और करो

पिताका शाप

यह घटना लगभग बीस वर्ष पूर्वकी है, जिसे मेरे एक मित्रने मुझे सुनाया था। घटना सत्य है और इसके केन्द्रीय पात्र पं० भूषण मेरे मित्रके नजदीकी रिश्तेदार ही हैं। इस घटनासे यह प्रमाणित होता है कि हृदयको पीड़ा होनेपर जो उद्गार निकलते हैं, वे शापके रूपमें परिणत होकर पीड़ा देनेवालेको अवश्य दण्ड देते हैं। इसी प्रकार की गयी सेवा भी निष्प्रभावी नहीं होती और निस्पृह भावसे की गयी सेवाका सुखद फल भी अवश्य प्राप्त होता है। यह घटना ऐसे आधुनिक नवयुवक-युवतियोंके लिये चेतावनी भी है, जो माता-पिता या गुरुजनोंके प्रति अभद्र व्यवहार करते हैं तथा ऐसे सेवाभावी श्रद्धालु युवक-युवतियोंके लिये प्रेरणास्रोत है, जो धर्म और कर्तव्य समझकर वृद्धजनोंकी निष्काम भावसे सेवा करते हैं। घटना इस प्रकार है—

मध्य प्रदेशका एक प्रसिद्ध शहर है दतिया, उसीके निकट एक ग्राममें पं० भूषणजी रहते थे। वे बड़े ही सरल, धार्मिक और विद्वान् ब्राह्मण थे। बचपनमें ही उनके पिताका गोलोकवास हो गया था, अत: उनके मामाजीने उनका और उनकी माताका पालन-पोषण किया। उनके मामाजी तत्कालीन विद्वान् पण्डितोंमेंसे एक थे और दतिया राजघरानेमें उनकी बड़ी मान्यता थी। बालक भूषणको कुशाग्र बुद्धिवाला देखकर उन्होंने उसे धार्मिक ग्रन्थों, कर्मकाण्ड और ज्योतिषकी शिक्षा दिलायी। कुछ ही दिनोंमें भूषण प्रकाण्ड पण्डित हो गये। युवा होनेपर मामाजीने भूषणका एक सुशील कन्यासे विवाह करा दिया और ढेर सारा गृहस्थीका सामान देकर माता और पत्नीसहित उन्हें उनके पैतृक निवास पहुँचा दिया। भूषणने अपने परिश्रम और पाण्डित्यसे वहाँ समाजमें अच्छा स्थान बना लिया था। उन्होंने अपने खेतमें एक पक्का कुआँ और घरके पास भगवान्‌का मन्दिर बनवाया।

भूषण और उनकी पत्नी—दोनों बहुत ही सरल स्वभावके और भगवद्भक्त थे। कुछ समय बाद ईश्वरकृपासे उन्हें पुत्रकी प्राप्ति हुई, उसका नाम रखा गया भजनलाल। माता-पिता उसे प्यारसे भज्जू कहते थे।

धीरे-धीरे समय बीतता रहा, भज्जू अब युवा हो चुका था; परंतु उसकी प्रवृत्ति पाण्डित्यकी ओर न होकर शरीर-सौष्ठवकी ओर अधिक थी। व्यायाम करना और कुश्ती लड़ना उसे प्रिय था। धीरे-धीरे उसकी झगड़ने और मार-पीट करनेकी आदत पड़ गयी। यह देख भूषणजीने पासके गाँवमें ही उसका विवाह कर दिया और अपने एक सर्राफ यजमानके यहाँ दतियामें नौकरी लगवा दी।

सर्राफने उसे वसूली करनेका काम सौंपा। यह भज्जूके मनोनुकूल कार्य था। वह उधारीके पैसोंकी वसूलीके लिये लोगोंके पास जाता और उनसे लड़-झगड़कर बलपूर्वक पैसे वसूल कर लाता। इससे सर्राफ भी प्रसन्न रहता और भज्जूका खूब आदर-सत्कार करता। धीरे-धीरे भज्जूकी पूरे दतियामें धाक जम गयी और लोग खुद ही उधारीका पैसा लाकर जमा कर जाते।

इस प्रकार सब कुछ ठीक-ठाक चलता रहा, परंतु पं० भूषण भज्जूकी लड़ने और मारपीट करनेकी आदतसे बहुत दुखी रहते थे। इसके लिये उन्होंने कई बार भज्जूको समझाया भी, पर वह अपनी आदतसे बाज आनेसे रहा। एक दिन भज्जूने एक गरीब ब्राह्मणको उसकी पत्नी और पुत्रीके सामने ही बुरी तरह अपमानित करके पीट दिया। बेचारा लहूलुहान ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रीके साथ रोता हुआ पं० भूषणके पास आया। उसकी ऐसी दशा देख भूषणजी क्रोध, दु:ख और ग्लानिसे अभिभूत हो उठे। उसी समय भज्जू भी वहाँ आ पहुँचा। पं० भूषणने उसके इस कृत्यके लिये उसकी बड़ी निन्दा की और फटकारा। इसपर जैसे घायल सर्प फुफकार उठता है, वैसे ही भज्जूने भी अपने पितापर आपत्तिजनक गालियोंकी बौछार कर दी। इससे पं० भूषणजीको बड़ी व्यथा हुई, वे दु:ख और क्रोधके मारे रोने लगे। अपमानसे व्यथित उनके हृदयसे भज्जूके लिये

अभिशाप निकल पड़ा—'जा, तुझे कोढ़ हो जायगा।'

पण्डित भूषण नैष्ठिक सदाचारी ब्राह्मण थे। भज्जू उनका एकमात्र पुत्र था। उसकी पत्नी परम पतिव्रता और सास-ससुरकी सेवामें रत रहनेवाली थी। स्वामी उसके आराध्य थे तो उन्हें जन्म देनेवाले सास-ससुर उसके लिये देवता थे। भज्जूका कोई पुत्र भी नहीं था, इस प्रकार पं० भूषणद्वारा दिया गया भज्जूको शाप खुद उनके लिये भी अभिशाप बन गया था। उनके वंशको चलानेवाला कोई नहीं था, परंतु अब क्या हो सकता था! मुखसे निकली वाणी वापस नहीं हो सकती थी। एक महीना बीतते-न-बीतते भज्जूके शरीरमें कोढ़ हो गया। जगह-जगह फोड़े हो गये और उनसे मवाद बहने लगा। भज्जूने घर छोड़ दिया और खेतपर कुटी बनाकर प्रायश्चित्त करते हुए वहीं रहने लगा। उसे अब अपने कियेका बड़ा पछतावा हो रहा था, परंतु जो कुछ होना था, वह तो हो ही चुका था। भज्जूकी पत्नी गृहकार्य करती, सास-ससुरकी सेवा करती, तत्पश्चात् अपने पतिदेवताके लिये भोजन और औषधि लेकर उनकी कुटियापर जाती। वहाँ उनके घावोंको धोती, उनमें औषधिका लेप करती, उनपर पट्टी बाँधती, उन्हें भोजन कराती और मधुरवाणीमें उन्हें सान्त्वना देती तथा यह विश्वास दिलाती कि भगवान्‌का आश्रय लेनेसे आपके पाप कट जायँगे और आप पुनः स्वस्थ हो जायँगे।

भज्जूकी पत्नीका यह क्रम अनवरत चलता रहा, उसे अपने ससुरसे कोई शिकायत नहीं थी। वह निस्पृह भावसे सारा गृहकार्य करती और सास-ससुरकी सेवा करती। पं० भूषणका अब अधिकांश समय मन्दिरमें भगवान्‌की सेवा, पूजा और प्रार्थना करनेमें बीतता। इस तरह कई महीने बीत गये। एक दिन बदरीनाथसे कुछ साधु आये और पं० भूषणके मन्दिरमें ठहरे। पण्डितजीने उनका आतिथ्य-सत्कार तो किया, पर उनके चेहरेकी उदासी साधुओंसे छिपी न रही। उनके पूछनेपर पण्डितजीने सारी बात बतायी। साधुओंने पण्डितजीसे आग्रह किया कि वे उन्हें भज्जूके पास ले चलें। साधुओंके आग्रहपर पण्डितजी उन्हें अपने खेतमें बनी झोपड़ीमें ले गये, जहाँ भज्जू रह रहा था। साधुओंके साथ पिताको आया देखकर भज्जू करुण स्वरमें विलाप करने लगा। साधुओंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि तुम हरिद्वारमें जाकर गंगातटपर वास करो और गंगाजलका सेवन करो। भगवान् दीनवत्सल हैं, उनसे क्षमा माँगनेपर वे अवश्य कृपा करेंगे।

भज्जूने हरिद्वार जानेका मन बना लिया। पहले तो पत्नी और माता-पिताने रोकनेका प्रयास किया, पर भज्जूके दृढ़ संकल्पको देखकर पं० भूषणने अपने चार शिष्योंको उसके साथ कर दिया। हरिद्वार पहुँचकर भज्जूने मन्दिरोंमें जाकर भगवान्‌के दर्शन किये और अपने पापों तथा अत्याचारोंके लिये क्षमा माँगी। शरीरमें कुष्ठ होनेसे उसे कोई अपने घरमें या धर्मशालामें स्थान देनेको तैयार नहीं था, अतः उसने शिष्योंके सहयोगसे गंगा-किनारे एक झोपड़ी तैयार करा ली और वहीं रहने लगा।

भज्जू बचपनसे ही अच्छा तैराक था, एक दिन स्नान करते हुए वह गंगामें धाराकी ओर तैरने लगा। साथियोंने मना किया, पर वह तैरता ही गया और एक भँवरमें पड़कर डूबने लगा। साथियोंने बहुत शोर मचाया, कुशल तैराकोंने दूर-दूरतक खोज की, जाल डाले गये, नावोंकी मदद ली गयी, पर दो-तीन दिनतक चले ये सारे प्रयास निरर्थक रहे। भज्जूका कहीं अता-पता न चला। दुखी और निराश होकर भज्जूके साथी गाँव वापस लौट आये और पं० भूषणजीको यह दुःखभरी खबर दी। पूरा गाँव शोकमें डूब गया, पण्डितजीके दुःखकी तो सीमा ही नहीं थी, उनका तो वंश ही समाप्त हो गया था। वे अपने-आपको ही इस सबका कारण मान रहे थे। बड़े-बुजुर्गोंने किसी प्रकार समझा-बुझाकर भज्जूका श्राद्ध आदि सम्पन्न कराया।

इधर भज्जू गंगाजीके तीव्रवेगमें डूबता-उतराता बहता रहा। उसके घावोंसे बहते खून और मवादसे आकर्षित होकर जल-जन्तु उसके घावोंका मांस नोचते रहे। उसके पेटमें पानी भर गया, परंतु उसे एक आश्चर्यका भास हो रहा था कि उसके घावोंसे अब खून

नहीं रिस रहा है और उसकी टेढ़ी अँगुलियाँ भी सीधी हो गयी हैं। धीरे-धीरे वह अचेत हो गया और उसका शरीर बहता हुआ किनारेपर आकर रेतमें अटक गया।

पूरी रात भज्जू अचेतावस्थामें वहीं पड़ा रहा, यद्यपि उसकी साँसें चल रही थीं। वहीं पासमें एक गाँव था, जो प्रायः जंगलसे घिरा था। प्रातःकाल जब गाँवके मन्दिरके पुजारी गंगा-स्नानके लिये आये तो धुँधलकेमें उन्हें रेतमें फँसी एक मानव-आकृति-सी दीख पड़ी, पास आनेपर पता चला कि अभी इसमें जीवनके लक्षण अवशेष हैं। यह देख पुजारीने गाँववालोंको बुलाया और उसे मन्दिर ले चलनेके लिये कहा। पुजारीजी वैद्यक शास्त्रके भी ज्ञाता थे। उन्होंने जंगलसे जड़ी-बूटियाँ मँगायीं, उलटा लिटाकर पेटका पानी निकाला और जड़ी-बूटियोंका घावोंपर लेप किया। घण्टों अलाव जलाकर शरीरको ताप दिया। धीरे-धीरे भज्जूको होश आ गया। उसने अपनी सारी रामकहानी पुजारीजीको बतायी। पुजारीने कहा कि गंगामैयाकी कृपासे तुम निष्पाप हो चुके हो, शीघ्र ही तुम्हारे घाव भर जायँगे और तुम स्वस्थ हो जाओगे।

पुजारीजीके उपचार, ग्रामवासियोंके स्नेहिल व्यवहार और सम्यक् आहार-विहारसे भज्जूका स्वास्थ्य सुधरने लगा। अब वह भगवान्के मन्दिरमें भजन-पूजनमें भी सम्मिलित होने लगा और कुछ दिनमें पूर्ण स्वस्थ हो गया। अब उसे अपने घर-परिवारकी याद आयी। उसने पुजारीजीको यह बात बतायी। पुजारीजीने दो युवकोंके साथ उसे दतियाके लिये ट्रेनसे भेज दिया। रात सवा नौ बजे भज्जू दतिया स्टेशन पहुँचा। दतियाके हर गली-कूचेसे वह पूर्णतया परिचित था, अतः उसने साथ आये युवकोंको वापस उनके गाँव भेज दिया और स्वयं दतियाके उन सर्राफके यहाँके लिये चल दिया, जहाँ वह वसूलीका काम करता था।

रातके लगभग साढ़े ग्यारह बजे सर्राफके दरवाजेपर पहुँचकर भज्जूने दस्तक दी तो अन्दरसे सर्राफने पूछा—'कौन है?' उत्तरमें चिरपरिचित कड़कती आवाज सुनायी दी—'मैं भज्जू हूँ, सेठजी!' पहले तो सेठजी भयभीत हुए; क्योंकि उन्हें भज्जूकी मृत्युकी खबर प्राप्त हो चुकी थी। फिर उन्होंने साहस करके पूछा—'भज्जू! तुम इतनी रातको कैसे आये?' जवाबमें भज्जूने सारी घटना सिलसिलेवार बतायी, तबतक सेठजीका परिवार और पास-पड़ोसके लोग भी वहाँ आ चुके थे। सेठजीका भय भी आश्चर्यमिश्रित हर्षमें बदल गया था। उन्होंने दरवाजा खोलकर भज्जूको अन्दर बुलाया, उसके भोजन और विश्रामकी समुचित व्यवस्था की।

सुबह होते ही सेठजीने अपना एक नौकर पं० भूषणजीके पास भेजा कि जाओ, पण्डितजीको भज्जूके जीवित होनेका शुभ समाचार सुना आओ और इधर उन्होंने भज्जूके लिये स्नानादि की व्यवस्था की। उसके लिये नये वस्त्र धोती, कुर्ता, गमछा आदि दिये और भोजन कराकर, यथेच्छ दक्षिणा आदि दे एक ताँगेसे उसे उसके गाँव भेजवा दिया।

भज्जूके गाँव पहुँचते ही उसके पूरे गाँव ही नहीं आसपासका भी माहौल खुशनुमा हो गया। चारों तरफ भगवान्की कृपाकी चर्चा चल रही थी। पण्डित भूषण और उनके परिवारकी खुशीका तो कहना ही क्या! भज्जू भी अब पूरी तरह बदल चुका था। वह अपने माता-पिताकी देवताकी भाँति सेवा-पूजा करने लगा था, अन्य सबसे भी उसका व्यवहार स्नेहिल हो गया था। गंगा माँके प्रति तो उसकी विशेष श्रद्धा हो चुकी थी; क्योंकि उन्हींकी कृपासे उसे असाध्य बीमारीसे मुक्ति मिली थी।

इस सत्य घटनासे अनेक नसीहतें सामने आ जाती हैं। अपने धर्ममें पुत्रके लिये माता-पिता ईश्वरके समान माने गये हैं, उनका तिरस्कार करना महापाप है। अपनेसे बड़ोंकी आहसे मनुष्यका बहुत बड़ा अहित हो जाता है। भज्जूके साथ ऐसा ही हुआ, परंतु भज्जूकी पत्नीके सेवाभाव तथा पति एवं सास-ससुरकी सेवासे उसे उनका मूक वरदान प्राप्त हुआ और ईश्वरने भज्जूके प्राण बचाकर उसके सुहागको वापस दे दिया। अतः पुत्रके लिये माता-पिता और बहूके लिये पति एवं सास-ससुर देवतातुल्य ही होते हैं। इनके प्रति सेवा एवं आदरभावसे सदा कल्याण ही होता है।—कृष्णगोपाल शर्मा

मनन करने योग्य

पृथ्वी किसीके साथ नहीं जाती

गौड़ेश्वर वत्सराजका मन राजा मुंजके आदेश-पालन और स्वकर्तव्य-निर्णयके बीच झूल रहा था। वह जानता था कि यदि राजा मुंज भोजका खूनसे लथपथ सिर न देखेगा तो मुझे जीवित नहीं छोड़ेगा। वह इसी उधेड़-बुनमें था कि सूर्यास्त हो गया। पश्चिमकी लालिमामें उसकी नंगी तलवार चमक उठी, मानो वह भोजके खूनकी प्यासी हो।

भुवनेश्वरी-वनके मध्यमें वत्सराजने रथ रोक दिया और भोजको राजादेश सुनाया कि मुंज राजसिंहासनका पूरा अधिकार-भोग चाहता है; उसने तुम्हारे वधकी आज्ञा दी है।

'तुमको राजाकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। भगवान् श्रीरामने वनवासका क्लेश सहा, समस्त यादवकुलका निधन हो गया, नलको राज्यसे च्युत होना पड़ा—सब कालके अधीन है।' कुमार भोजने अपने खूनसे वटपत्रपर एक श्लोक लिखा मुंजके लिये।

वनकी नीरवतामें काली रात भयानक हो उठी। वत्सराजके हाथमें लपलपाती-सी नंगी तलवार ऐसी लगती थी, मानो निरपराधीके खूनसे नहानेमें मृत्यु सहम रही हो। वत्सराजके हाथसे तलवार गिर पड़ी, वह सिहर उठा।

'मैं भी मनुष्य हूँ, मेरा हृदय भी सुख-दुःखका अनुभव करता है।' उसने कुमारको अपनी गोदमें उठा लिया। उसके नेत्रोंसे अश्रु-कण झरने लगे। अँधेरा बढ़ता गया।

× × ×

'उसने मरते समय कुछ कहा भी था?' टिमटिमाते दीपके मन्द प्रकाशमें खूनसे लथपथ सिर देखकर सहम उठा मुंज। 'हाँ, महाराज!' वत्सराजने पत्र हाथमें रख दिया। उसमें लिखा था—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते
नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति॥*

'उसने ठीक ही लिखा है—कितना बड़ा महापाप कर डाला मैंने। मैं स्वर्गीय महाराज सिन्धुको क्या उत्तर दूँगा, जिन्होंने पाँच वर्षके अल्पवयस्क कुमारको मेरी गोदमें रख दिया था? मैंने विधवा सावित्रीकी ममता—मातृत्वकी हत्या कर दी।' मुंज रोने लगा।

राजप्रासादमें हाहाकार मच गया। बुद्धिसागर मन्त्रीने राजाके शयन-गृहमें किसीके भी जानेकी मनाही कर दी और खिन्न होकर शयन-गृहसे सटे सभा-भवनमें बैठ गया। वत्सराजने उसके कानमें कहा कि 'भोज जीवित हैं, मैंने नकली सिर दिखाया है।' वह राजभवनसे बाहर हो गया। राजाने रातमें ही अग्नि-प्रवेश करना चाहा।

× × ×

सारी-की-सारी धारानगरी शोकसागरमें निमग्न थी। रात धीरे-धीरे अपनी भयानकता फैला रही थी। सभाभवनमें एक कापालिकने आकर बुद्धिसागरसे निवेदन किया कि मैं मरे हुए व्यक्तिको जिला सकता हूँ। कटे हुए सिरको धड़से जोड़कर प्राण-संचार कर सकता हूँ। राजा मुंज कापालिककी घोषणा सुनकर सभा-भवनमें आया। 'महाराज! मैंने महापाप किया है। उसके प्रायश्चित्तके लिये मैंने ब्राह्मणोंकी सम्मतिसे अग्निमें प्रवेश करनेका निश्चय किया है। मेरे प्राण कुछ ही क्षणोंके लिये इस शरीरमें हैं। आप कुमारको जीवन-दान दीजिये।' मुंजने खूनसे रँगा सिर कापालिकके हाथमें रख दिया। बुद्धिसागर कापालिकके साथ तत्क्षण श्मशानमें गया।

× × ×

दूसरे दिन सबेरे धारानगरीमें प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी। 'कुमार भोजको कापालिकने प्राण-दान दिया।' यही बात प्रत्येक व्यक्तिकी जीभपर थी। राजा मुंजने राजसिंहासन भोजको सौंप दिया तथा स्वयं तप करनेके लिये वनकी राह पकड़ी।

---

* चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाता सत्ययुगके अलंकाररूप हुए, पर वे भी चले गये। महान् समुद्रपर जिसने सेतुकी रचना की, दशानन रावणके संहारक वे राम कहाँ हैं? युधिष्ठिर आदि अन्य राजा भी स्वर्ग चले गये, पर यह पृथ्वी किसीके साथ नहीं गयी, लेकिन लगता है; हे मुंज! यह तुम्हारे साथ ही जायगी।

नवीन प्रकाशन—छपकर तैयार

भागवत नवनीत (कोड 2009)—प्रस्तुत ग्रन्थ आधुनिक शुक **ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्रीरामचन्द्र डोगरेजीके** द्वारा प्रवचनके रूपमें प्रस्तुत सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत-कथाओंका अद्‌भुत संकलन है। इसका स्वाध्याय करके पाठक सहज ही श्रीमद्भागवतके अथाह सागरमें अवगाहन करके पूर्ण तृप्तिका लाभ उठाकर भावसमुद्रमें निमग्न हो सकते हैं। श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण जीवन-दर्शन एवं जीवन-जगत्‌के सम्पूर्ण समस्याओंका उत्कृष्ट समाधान है। इसको गुजराती भाषामें भी प्रकाशित करनेकी चेष्टा है। मूल्य ₹१६०

मानवमात्रके कल्याणके लिये (कोड 2008) असमिया—वेदान्तके चरम ज्ञानके व्यावहारिक सहज व्याख्याता ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनोंसे संकलित इस पुस्तकमें सब साधनोंका सार, कल्याणके तीन सुगम मार्ग, अमरताकी ओर आदि अनेक तात्त्विक निबन्धोंका अनुपम संग्रह है। मूल्य ₹२० (मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़िआ, अंग्रेजीमें भी उपलब्ध)

पुनः छपकर तैयार—वेद-कथाङ्क [परिशिष्टसहित] (कोड 1044) ग्रन्थाकार—इस विशेषाङ्कमें वेदोंके प्रमुख विषयोंका विवेचन, वैदिक मन्त्रों, सूक्तियों, मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका परिचय एवं वेदोंमें वर्णित कथाओंका रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। मूल्य ₹१७५

श्रीकृष्णजन्माष्टमी एवं श्रीराधाष्टमीपर उपयोगी प्रमुख प्रकाशन

(श्रीकृष्णजन्माष्टमी ५ सितम्बर शनिवारको एवं श्रीराधाष्टमी २१ सितम्बर सोमवारको है।)

कन्हैया (कोड 869), गोपाल (कोड 870), मोहन (कोड 871), श्रीकृष्ण (कोड 872) श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके आधारपर लिखी गयी चित्रकथाकी इन पुस्तकोंमें भगवान् श्रीकृष्णके जन्मसे लेकर उनके परमधाम गमनतककी चुनी हुई लीलाओंसे सजाया गया है। प्रत्येकका मूल्य ₹ १५

पदरत्नाकर (कोड 50) पुस्तकाकार—इन पदोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंके चित्रणके साथ ज्ञान, वैराग्य, चेतावनी आदि अनेक विषयोंपर सरल काव्यात्मक प्रकाश डाला गया है। मूल्य ₹ ९०

श्रीराधा-माधव-चिन्तन (कोड 049) पुस्तकाकार—इसमें श्रीराधाकृष्णका अलौकिक प्रेम ही श्रीराधामाधव-चिन्तनके रूपमें प्रस्फुटित है। भक्ति और शास्त्रीय चिन्तनके अद्भुत समन्वयके साथ यह ग्रन्थ-रत्न सात प्रकरणोंमें विभक्त है। मूल्य ₹ ९०

महाभाव-कल्लोलिनी (कोड 526) पुस्तकाकार—इस पुस्तकमें श्रीराधाकृष्णकी विभिन्न लीलाओंसे सम्बन्धित ११६ पदोंका संग्रह है। नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीके द्वारा प्रणीत यह पद-संग्रह पाठकोंकी भक्ति-भावनाकी वृद्धि करनेवाला तथा आध्यात्मिक रुचिकी तृप्ति करनेवाला है। मूल्य ₹ ८

राधा-माधव-रस-सुधा (कोड 371) पुस्तकाकार—इस पुस्तकमें श्रद्धेय श्रीभाईजीके द्वारा प्रणीत श्रीराधाकृष्णकी विभिन्न लीलाओंका सोलह गीतोंके रूपमें सटीक संग्रह है। मूल्य ₹ ६

श्रीतुलसी-जयन्तीके अवसरपर पठनीय—तुलसी-साहित्य

कोड	पुस्तक-नाम	मू०₹	कोड	पुस्तक-नाम	मू०₹	कोड	पुस्तक-नाम	मू०₹
105	विनय-पत्रिका	४०	108	कवितावली	२०	112	हनुमानबाहुक	५
106	गीतावली	४५	110	श्रीकृष्ण-गीतावली	१०	113	पार्वती-मंगल	५
107	दोहावली	२०	111	जानकी-मंगल	७	114	वैराग्य-संदीपनी एवं बरवै...	४

(श्रीतुलसी-जयन्ती २२ अगस्त शनिवारको है।)

प्र० ति० २०-७-२०१५
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७ पंजीकृत संख्या—NP/GR-13/2014-2016
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE No. WPP/GR-03/2014-2016

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कर्मकाण्डकी प्रमुख पुस्तकें

[२८ सितम्बरसे पितृपक्ष (महालया) आरम्भ हो रहा है]

अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश (कोड 1593) ग्रन्थाकार—इस ग्रन्थमें मूल ग्रन्थों तथा निबन्ध-ग्रन्थोंको आधार बनाकर श्राद्ध-सम्बन्धी सभी कृत्योंका साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है। मूल्य ₹१३०

जीवच्छ्राद्धपद्धति (कोड 1895)—प्रस्तुत पुस्तकमें जीवित श्राद्धकी शास्त्रीय व्यवस्था दी गयी है, जिसके माध्यमसे व्यक्ति अपने जीवित रहते ही मरणोत्तर क्रियाका सही सम्पादन करके कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सके। (पुन: मुद्रण सम्भावित)

गया-श्राद्ध-पद्धति (कोड 1809)—शास्त्रोंमें पितरोंके निमित्त गया-यात्रा और गया-श्राद्धकी अशेष महिमा बतायी गयी है। आश्विन मासमें गया-यात्राकी परम्परा है। प्रस्तुत पुस्तकमें गया-माहात्म्य, यात्राकी प्रक्रिया, श्राद्धका महत्त्व तथा श्राद्धकी प्रक्रियाको सांगोपांग ढंगसे प्रस्तुत किया गया है। मूल्य ₹३५

गरुडपुराण-सारोद्धार (कोड 1416)—श्राद्ध और प्रेतकार्यके अवसरोंपर विशेषरूपसे इसके श्रवणका विधान है। यह कर्मकाण्डी ब्राह्मणों एवं सर्व सामान्यके लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। मूल्य ₹३५

नित्यकर्म-पूजा-प्रकाश, सजिल्द (कोड 592)—इस पुस्तकमें प्रात:कालीन भगवत्स्मरणसे लेकर स्नान, ध्यान, संध्या, जप, तर्पण, बलिवैश्वदेव, देव-पूजन, देव-स्तुति, विशिष्ट पूजन-पद्धति, पञ्चदेव-पूजन, पार्थिव-पूजन, शालग्राम-महालक्ष्मी-पूजनकी विधि है। मूल्य ₹६० गुजराती, तेलुगु भी।

त्रिपिण्डी श्राद्ध (कोड 1928)—अपने कुल या अपनेसे सम्बद्ध अन्य कुलमें उत्पन्न किसी जीवके प्रेतयोनि प्राप्त होनेपर उसके द्वारा संतानप्राप्तिमें बाधा या अन्यान्य अनिष्टोंकी निवृत्तिके लिये किया जानेवाला श्राद्ध त्रिपिण्डी श्राद्ध है। इस पुस्तकमें त्रिपिण्डी श्राद्धका सविधि वर्णन किया गया है। मूल्य ₹१५

सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण बलिवैश्वदेव-विधि (कोड 210) पुस्तकाकार—नित्य सन्ध्या-उपासना एवं तर्पण बलिवैश्वदेवविधिका मन्त्रानुवादके साथ सुन्दर प्रकाशन। मूल्य ₹४

नासिकमें कुम्भ महापर्व

१५ अगस्त २०१५ से नासिकमें कुम्भ-मेला प्रारम्भ होगा। भाद्रपद कृष्ण अमावस्या, संवत् २०७२, रविवार, १३ सितम्बर २०१५ ई० को नासिकमें गोदावरीके तटपर कुम्भका मुख्य स्नान है। गीताप्रेसकी पुस्तकोंका विशेष स्टॉल मेला-क्षेत्रमें लगानेका प्रयास किया जा रहा है।

२१ वाँ दिल्ली पुस्तक-मेला सन् २०१५—इस वर्ष भी प्रगति मैदान, नयी दिल्लीमें (**दिनाङ्क २९ अगस्तसे ६ सितम्बर २०१५ तक**) आयोजित दिल्ली पुस्तक-मेलामें गीताप्रेसद्वारा एक भव्य पुस्तक-स्टाल लगाकर विभिन्न भारतीय भाषाओंमें प्रकाशित अपने प्रकाशनोंके प्रदर्शन एवं बिक्रीकी व्यवस्था करनेका प्रयास है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ०प्र०)**

खुल गया चेन्नईमें—गीताप्रेस गोरखपुरका नया पुस्तक-स्टॉल
पता-१२, अभिरामी मॉल, पुरासावलकम, निकट किलपौक/वेपेरी।

मासिक 'कल्याण' kalyan-gitapress.org पर मुफ्त पढ़ें।